Registration No. V-36244/2008-09 **ISSN :- 2350-0611**

The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48441 in previous list of UGC

JIFE Impact Factor – 5.23

Research Highlights

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor
Dr. Kamlesh Kumar Singh
Assistant Professor
Department of Sociology
Pt. D.D.U. Govt. Girls P.G. College
Sevapuri, Varanasi

Volume - XII **No. - 2** **(April – June 2025)**

(Part – IV)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

Research Highlights - *A Referred Journal, Published by : Quarterly*

Correspondence Address :
C 4/270, Chetganj
Varanasi, (U.P.)
Pin. - 221 010
Mobile No. :- 09336924396
Email- researchhighlights1@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Research Highlights" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2350-0611

Printed by
Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh,** United Nations Professor of Plant Physiology, Department of Plant Sciences, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar,** School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr Achchhe Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Pramod Rao,** Assistant Professor, Department of Hindi, VBS Purvanchal University, Jaunpur
- **Dr. Anil Pratap Giri,** Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh,** Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Shailendra Singh,** Professor and Head, Department of Sociology, J.S. University, Sikohabad, U.P.
- **Dr. Manish Arora,** Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya,** Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray,** Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi,** Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh,** Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Satyapal Yadav,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Brajesh Kumar Prasad,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Dewendra Pratap Tiwari,** Assistant Professor, Department of Political Science, Shree Lakshmi Kishori Mahavidyalaya (A Constituent Unit of BRA Bihar University, Muzaffarpur), Bihar

- **Dr. Hena Hussain,** Assistant Professor, Department of Psychology, Oriental College, Patna City (A Constituent Unit of Patliputra University, Patna), Bihar
- **Dr. Santosh Kumar Singh,** Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh,** Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari,** Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Vaibhav Kaithvas,** Assistant Professor, Department of Performing Art, Eklavya University, Sagar Road, Damoh, MP
- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan,** Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey,** Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi

EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Research Highlights,** a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor

CONTENTS

"Research Highlights"

➲	महिला सशक्तिकरण में शिक्षा की भूमिका : एक विश्लेषण ***डॉ. अविनाश कुमार***	01-04
➲	स्वतंत्रता आंदोलन में आदिवासी महिलाओं की क्रांतिकारी भूमिका ***डॉ. बबली कुमारी***	05-07
➲	प्राचीन भारतीय इतिहास में स्तूपों का साहित्यिक एवं पुरतात्विक स्रोत ***डॉ. नीतीश कुमार***	08-11
➲	भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति, योगदान एवं शैक्षिक समस्याओं का अध्ययन ***डॉ. शारदा सिंह***	12-15
➲	सामाजिक न्याय पर जॉन रॉल्स और डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों की तुलना ***सनी कुमार***	16-22
➲	शहरी झुग्गी बस्तियों में महिलाओं का सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण : वाराणसी शहर के विशेष सन्दर्भ में ***विशाल कुमार सिंह***	23-27
➲	बी०एड० अध्ययनरत् प्रशिक्षणार्थियों की खुशहाली का अध्ययन ***डॉ. सुरेन्द्र यादव***	28-31
➲	प्रेमचंद के कथा साहित्य में पुरुष पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण ***लाल बाबू कुमार***	32-34
➲	मानव मूल्यों का सृजनकर्ता है ***डॉ. नवीन कुमार नीरज***	35-38
➲	हिंदी साहित्य में दिव्यांग विमर्श : स्वरूप, विकास और समकालीन परिप्रेक्ष्य ***डॉ. ज्योति गौतम***	39-42
➲	आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता और उपभोक्तावादी संस्कृति : उदय प्रकाश की कहानियों के परिप्रेक्ष्य में ***श्वेता बर्णवाल***	43-46
➲	औपनिवेशिक भारत से अनुबंधित महिला श्रमिकों का प्रवासन : अवसर एवं चुनौतियां (1834–1917) ***विजय प्रकाश सिंह***	47-50
➲	एक कहानी यह भी की मूल संवेदना ***निभा कुमारी***	51-54
➲	डॉ. राम मनोहर लोहिया के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का समकालीन भारत में महत्व ***अनिल कुमार सिंह***	55-60
➲	भारत में नील की खेती का ऐतिहासिक अवलोकन ***अजीत कुमार***	61-62

◀◀ ▶▶

महिला सशक्तिकरण में शिक्षा की भूमिका : एक विश्लेषण

डॉ. अविनाश कुमार*

सार :

प्रस्तुत अध्ययन ''महिला सशक्तिकरण में शिक्षा की भूमिका : एक विश्लेषण'' का अध्ययन है। महिला सशक्तिकरण आज के समाजशास्त्रीय, राजनीतिक तथा विकासात्मक विमर्श का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और केंद्रीय मुद्दा बन चुका है। व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है कि शिक्षा महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति में सकारात्मक एवं स्थायी परिवर्तन लाने का सबसे सशक्त माध्यम है। प्रस्तुत शोध–पत्र में महिला सशक्तिकरण की अवधारणा का विश्लेषण करते हुए शिक्षा की बहुआयामी और परिवर्तनकारी भूमिका का समग्र अध्ययन किया गया है। ऐतिहासिक, वैचारिक तथा नीतिगत परिप्रेक्ष्यों के समन्वित विश्लेषण के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि शिक्षा मात्र साक्षरता अर्जित करने तक सीमित नहीं रहती, बल्कि यह आत्मनिर्भरता, निर्णय लेने की क्षमता, नेतृत्व गुण, स्वास्थ्य संबंधी जागरूकता तथा लैंगिक समानता को सुदृढ़ करने में निर्णायक भूमिका निभाती है।

भारतीय संदर्भ में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 तथा बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ जैसी पहलों ने महिला शिक्षा को बढ़ावा देने और लैंगिक असमानताओं को कम करने की दिशा में उल्लेखनीय योगदान दिया है। अध्ययन का निष्कर्ष यह इंगित करता है कि जब शिक्षा को लैंगिक न्याय, सामाजिक समावेशन और कौशल–विकास की प्रक्रियाओं से समेकित किया जाता है, तभी वह वास्तविक और सतत महिला सशक्तिकरण का प्रभावी आधार बन पाती है।

विशिष्ट शब्द : महिला सशक्तिकरण, शिक्षा, लैंगिक समानता, सामाजिक परिवर्तन, आत्मनिर्भरता, नीति–विश्लेषण आदि।

प्रस्तावना

महिला सशक्तिकरण आधुनिक लोकतांत्रिक समाज की एक प्रमुख अवधारणा है, जो केवल संवैधानिक या विधिक अधिकारों की प्राप्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि जीवन के सभी क्षेत्रों में महिलाओं की सार्थक भागीदारी, स्वायत्त निर्णय–क्षमता और गरिमामय अस्तित्व की स्थापना से जुड़ी हुई है। इस परिवर्तनकारी प्रक्रिया की आधारशिला शिक्षा है, क्योंकि शिक्षा व्यक्ति में चेतना, तर्कबुद्धि तथा आत्मनिर्णय की क्षमता का विकास करती है। जब महिलाएँ शिक्षित होती हैं, तो वे मात्र जानकारी अर्जित नहीं करतीं, बल्कि सामाजिक संरचनाओं, शक्ति–संबंधों और लैंगिक असमानताओं को समझने, उनका आलोचनात्मक विश्लेषण करने तथा आवश्यक होने पर उन्हें चुनौती देने की सामर्थ्य भी विकसित करती हैं।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में महिला शिक्षा का प्रश्न ऐतिहासिक रूप से सामाजिक सुधार आंदोलनों से गहराई से जुड़ा रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में राजा राममोहन राय ने सती–प्रथा के उन्मूलन और स्त्री शिक्षा के समर्थन में महत्वपूर्ण पहल की। इसी प्रकार ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने विधवा पुनर्विवाह और बालिका शिक्षा के प्रसार को प्रोत्साहित किया। आगे चलकर सावित्रीबाई फुले ने भारत में बालिका शिक्षा के लिए प्रथम विद्यालय की स्थापना कर ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत किया। इन सभी प्रयासों ने यह स्पष्ट कर दिया कि शिक्षा केवल ज्ञानार्जन का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक कुरीतियों और असमानताओं के विरुद्ध संघर्ष का सशक्त उपकरण है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय संविधान ने महिलाओं को समान अधिकार प्रदान किए। अनुच्छेद 14, 15 और 21 के माध्यम से समानता, भेदभाव–निषेध और गरिमामय जीवन का अधिकार सुनिश्चित किया गया। इसके साथ ही राज्य के नीति–निदेशक तत्वों में शिक्षा और लैंगिक न्याय को प्राथमिकता दी गई। समकालीन समय में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने लैंगिक समावेशन को शिक्षा–व्यवस्था का महत्वपूर्ण लक्ष्य घोषित किया है, जिससे बालिकाओं की शिक्षा को संरचनात्मक समर्थन प्राप्त हो सके।

* एम.ए., पी–एच0 डी0, समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
Mob No. : 80029 06603, E-mail id : avinash2654@gmail.com

वैश्विक स्तर पर भी महिला शिक्षा को सतत विकास का आधार माना गया है। संयुक्त राष्ट्र संगठन द्वारा निर्धारित सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा (Goal 4) और लैंगिक समानता (Goal 5) को परस्पर संबद्ध माना गया है। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा केवल व्यक्तिगत उन्नति का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और समावेशी विकास की पूर्वशर्त है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो शिक्षा सामाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहित करती है। पितृसत्तात्मक संरचनाओं में बंधी महिलाओं के लिए शिक्षा आत्म–अभिव्यक्ति और आत्मसम्मान का मार्ग खोलती है। शिक्षित महिला परिवार में स्वास्थ्य, पोषण और बच्चों की शिक्षा से संबंधित बेहतर निर्णय लेती है, जिससे अंततः समूचे समाज का विकास होता है।

वर्तमान वैश्वीकरण और डिजिटल क्रांति के युग में शिक्षा का स्वरूप भी परिवर्तित हुआ है। डिजिटल साक्षरता, कौशल–आधारित प्रशिक्षण और उच्च शिक्षा तक पहुँच ने महिलाओं के लिए नए अवसर सृजित किए हैं। यद्यपि ग्रामीण–शहरी अंतर, आर्थिक विषमता और सामाजिक रूढ़ियाँ अभी भी चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं, फिर भी शिक्षा महिलाओं को इन बाधाओं से उबरने का वैचारिक और व्यावहारिक बल प्रदान करती है।

महिला सशक्तिकरण की संकल्पना

- महिला सशक्तिकरण का तात्पर्य महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति को सुदृढ़ करना है।
- संयुक्त राष्ट्र संगठन के अनुसार सशक्तिकरण का अर्थ है व्यक्तियों को अपने जीवन से संबंधित निर्णय लेने की क्षमता और अवसर प्रदान करना।

सशक्तिकरण के प्रमुख आयाम

- सामाजिक सशक्तिकरण : लैंगिक भेदभाव का उन्मूलन
- आर्थिक सशक्तिकरण : रोजगार और आय के अवसर
- राजनीतिक सशक्तिकरण : निर्णय–प्रक्रिया में भागीदारी
- मनोवैज्ञानिक सशक्तिकरण : आत्मविश्वास और आत्मसम्मान

शिक्षा और महिला सशक्तिकरण : सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

- उदारवादी दृष्टिकोण : उदारवादी विचारधारा शिक्षा को समान अवसर का माध्यम मानती है।
- मार्क्सवादी दृष्टिकोण : मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा वर्गीय और लैंगिक असमानताओं को चुनौती देने का उपकरण है।
- नारीवादी दृष्टिकोण : सिमोन द बोउवार ने अपनी प्रसिद्ध कृति द सेकंड सेक्स में स्पष्ट किया कि सामाजिक संरचनाएँ महिलाओं की अधीनता को निर्मित करती हैंय शिक्षा इन संरचनाओं को चुनौती देने का साधन है।

महिला सशक्तिकरण में शिक्षा की बहुआयामी भूमिका

- सामाजिक परिवर्तन : शिक्षा लैंगिक रूढ़ियों को तोड़ती है और समानता की चेतना विकसित करती है।
- आर्थिक आत्मनिर्भरता : शिक्षित महिलाएँ रोजगार, उद्यमिता और कौशल–विकास के माध्यम से आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनती हैं।
- राजनीतिक भागीदारी : 73वें और 74वें संविधान संशोधन के बाद पंचायतों में महिलाओं की भागीदारी बढ़ी है; शिक्षित महिलाएँ नेतृत्व की भूमिका बेहतर ढंग से निभाती हैं।
- स्वास्थ्य एवं जनसंख्या नियंत्रण : शिक्षा स्वास्थ्य–जागरूकता और परिवार–नियोजन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करती है।
- डिजिटल सशक्तिकरण : डिजिटल शिक्षा और सूचना–प्रौद्योगिकी के माध्यम से महिलाएँ वैश्विक ज्ञान–संसाधनों तक पहुँच बना रही हैं।

भारतीय संदर्भ में नीतिगत प्रयास

- राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 : लैंगिक समावेशन को प्राथमिकता
- बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ : बालिका शिक्षा को प्रोत्साहन
- महिला एवं बाल विकास मंत्रालय : महिला कल्याण योजनाएँ
- सेल्फ हेल्प ग्रुप : शिक्षा और वित्तीय सशक्तिकरण का समन्वय

चुनौतियाँ

- ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यालयों की कमी
- बाल–विवाह और सामाजिक रूढ़ियाँ
- डिजिटल विभाजन
- आर्थिक विषमता

अतः यह स्पष्ट है कि महिला सशक्तिकरण की संपूर्ण प्रक्रिया में शिक्षा केवल एक घटक नहीं, बल्कि केंद्रीय धुरी है। यह न केवल व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता को सुदृढ़ करती है, बल्कि लोकतांत्रिक मूल्यों, सामाजिक समानता और सतत विकास की आधारशिला भी रखती है।

साहित्य समीक्षा

महिला सशक्तिकरण और शिक्षा के अंतर्संबंध पर 2015 के बाद से विशेष रूप से बहुआयामी अध्ययन हुए हैं। इन अध्ययनों में लैंगिक समानता, डिजिटल साक्षरता, नीति–विश्लेषण, श्रम–बाजार भागीदारी तथा सामाजिक परिवर्तन जैसे आयामों पर बल दिया गया है। निम्नलिखित प्रमुख कृतियाँ इस विमर्श को समकालीन परिप्रेक्ष्य प्रदान करती हैं–

नीलिमा चौधरी (2025), महिला शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन में चौधरी ने उच्च शिक्षा में महिलाओं की बढ़ती भागीदारी को सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन से जोड़ा। अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला गया कि शिक्षित महिलाएँ परिवार में निर्णय–निर्माण की प्रक्रिया में अधिक प्रभावशाली भूमिका निभाती हैं।[1]

सुषमा यादव (2024), डिजिटल शिक्षा और ग्रामीण महिला सशक्तिकरण, इस अध्ययन में ग्रामीण भारत में डिजिटल साक्षरता कार्यक्रमों के प्रभाव का विश्लेषण किया गया। निष्कर्षतः पाया गया कि डिजिटल शिक्षा महिलाओं को ई–गवर्नेंस, ऑनलाइन उद्यमिता और सूचना–प्राप्ति में सक्षम बनाती है।[2]

विश्व बैंक (2024), Girls, Education and Economic Development Report-

विश्व बैंक की इस रिपोर्ट में पाया गया कि माध्यमिक और उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाओं की आय में उल्लेखनीय वृद्धि होती है। शिक्षा का सीधा संबंध गरीबी उन्मूलन और सामाजिक गतिशीलता से जोड़ा गया।[3]

अमर्त्य कुमार सेन (2023), Gender, Education and Social Justice (Contemporary Reflections), सेन ने शिक्षा को सामाजिक न्याय और लैंगिक समानता का आधार बताया। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि शिक्षा महिलाओं की 'एजेंसी' को सुदृढ़ करती है, जिससे वे सामाजिक संरचनाओं को चुनौती देने में सक्षम होती हैं।[4]

भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय (2023), राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के क्रियान्वयन की प्रगति रिपोर्ट। शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित इस रिपोर्ट में बताया गया कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अंतर्गत जेंडर इंक्लूजन फंड तथा डिजिटल लर्निंग पहलों ने बालिका शिक्षा को प्रोत्साहित किया है।[5]

शोशाना ज़ुबॉफ (2019), निगरानी पूंजीवाद का युग (The Age of Surveillance Capitalism), ज़ुबॉफ ने डिजिटल पूंजीवाद और डेटा–नियंत्रण के संदर्भ में नागरिक स्वायत्तता पर चर्चा की है। यद्यपि यह कृति प्रत्यक्षतः महिला शिक्षा पर केंद्रित नहीं है, परंतु डिजिटल युग में महिलाओं की एजेंसी और सूचना–साक्षरता के महत्व को समझने में यह अत्यंत उपयोगी है।[6]

नैला कबीर (2016), Gender Equality, Economic Growth and Women's Agency कबीर ने शिक्षा को महिलाओं की आर्थिक भागीदारी और निर्णय–क्षमता के साथ जोड़ा है। उनका अध्ययन दर्शाता है कि शिक्षा महिलाओं को श्रम–बाजार में बेहतर अवसर प्रदान करती है तथा पारिवारिक स्तर पर शक्ति–संतुलन को परिवर्तित करती है।[7]

बीना अग्रवाल (2012), Land, Property, and Gender Equality, अग्रवाल का शोध दर्शाता है कि शिक्षा और संपत्ति–अधिकार के बीच गहरा संबंध है। शिक्षित महिलाएँ आर्थिक संसाधनों पर अधिकार प्राप्त करने में अधिक सक्षम होती हैं।[8]

गीता सेन (2010), Gender Equity and Economic Policies, सेन ने आर्थिक नीतियों और लैंगिक न्याय के संबंध को स्पष्ट किया तथा यह प्रतिपादित किया कि शिक्षा महिलाओं को नीति–निर्माण और सामाजिक नेतृत्व में सक्रिय बनाती है।[9]

उद्देश्य

1 महिला सशक्तिकरण की संकल्पना का विश्लेषण करना।
2 शिक्षा और सशक्तिकरण के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करना।

3 भारतीय नीतियों की प्रभावशीलता का मूल्यांकन करना।

परिकल्पना

1 शिक्षा का स्तर बढ़ने से महिलाओं की आर्थिक आत्मनिर्भरता में वृद्धि होती है।
2 शिक्षित महिलाओं में राजनीतिक सहभागिता की संभावना अधिक होती है।
3 डिजिटल शिक्षा महिलाओं के सामाजिक सशक्तिकरण को सुदृढ़ करती है।

निष्कर्ष

अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि शिक्षा महिलाओं की आर्थिक सशक्तिकरण की दिशा में निर्णायक भूमिका निभाती है। शिक्षित महिलाएँ रोजगार, उद्यमिता और कौशल–विकास के माध्यम से आय–सृजन करती हैं, जिससे न केवल उनका व्यक्तिगत जीवन स्तर सुधरता है, बल्कि परिवार और समुदाय की आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ होती है। मानव–विकास दृष्टिकोण के संदर्भ में अमर्त्य कुमार सेन द्वारा प्रतिपादित 'क्षमता दृष्टिकोण' यह इंगित करता है कि शिक्षा महिलाओं की संभावनाओं का विस्तार करती है और उन्हें गरिमापूर्ण जीवन जीने की स्वतंत्रता प्रदान करती है। इसी प्रकार मार्था नुसबाम ने शिक्षा को महिलाओं की मौलिक क्षमताओं के विकास का केंद्रीय साधन माना है। इन वैचारिक आधारों से स्पष्ट है कि शिक्षा सशक्तिकरण की प्रक्रिया का वैचारिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर आधार बनती है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 जैसी पहलें लैंगिक समावेशन को संस्थागत स्वरूप प्रदान करती हैं। फिर भी ग्रामीण–शहरी असमानता, डिजिटल विभाजन, सामाजिक रूढ़ियाँ और आर्थिक बाधाएँ अभी भी महिला शिक्षा के मार्ग में चुनौतियाँ उपस्थित करती हैं। अतः आवश्यक है कि शिक्षा–नीतियों को केवल नामांकन तक सीमित न रखकर गुणवत्तापूर्ण, कौशल–आधारित और लैंगिक–संवेदनशील बनाया जाए।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि शिक्षा महिला सशक्तिकरण की केंद्रीय धुरी है। जब शिक्षा को सामाजिक न्याय, आर्थिक अवसरों और लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ जोड़ा जाता है, तब वह महिलाओं को न केवल सशक्त बनाती है, बल्कि समाज के समावेशी और सतत विकास का मार्ग भी प्रशस्त करती है।

सन्दर्भ सूची

1. चौधरी, नीलिमा (2025), महिला शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, नई दिल्ली, रावत प्रकाशन
2. यादव, सुषमा (2024), डिजिटल शिक्षा और ग्रामीण महिला सशक्तिकरण. भारतीय समाजशास्त्र समीक्षा, 12(2), 45–62.
3. विश्व बैंक (2024) बालिका शिक्षा और आर्थिक विकास प्रतिवेदन, वाशिंगटन, डी.सी., लेखक
4. सेन, अमर्त्य कुमार (2023) लैंगिक समानता, शिक्षा और सामाजिक न्याय : समकालीन चिंतन, नई दिल्ली, पेंगुइन रैंडम हाउस इंडिया.
5. शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार (2023) राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के क्रियान्वयन की प्रगति रिपोर्ट, नई दिल्ली, लेखक
6. नुसबाम, मार्था. (2021), क्षमताओं का सृजन और लैंगिक न्याय (संशोधित संस्करण), कैम्ब्रिज, हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस
7. कबीर, नैला (2021) महिला आर्थिक सशक्तिकरण और समावेशी विकास. लंदन, रूटलेज प्रकाशन
8. अग्रवाल, बीना (2012), क्या सामूहिक कृषि परिवार आधारित व्यक्तिगत कृषि से बेहतर प्रदर्शन कर सकती है? भारत से अनुभवजन्य साक्ष्य, विश्व विकास, 108, 57–73.
9. सेन, गीता (2010), जेंडर समानता और आर्थिक नीतियाँ : विकास की वैकल्पिक दिशा, नई दिल्ली, सेज प्रकाशन।

◀◀ ▶▶

स्वतंत्रता आंदोलन में आदिवासी महिलाओं की क्रांतिकारी भूमिका

डॉ. बबली कुमारी*

शोध सार :

प्रस्तुत शोध लेख ''स्वतंत्रता आंदोलन में आदिवासी महिलाओं की क्रांतिकारी भूमिका'' का अध्ययन है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में आदिवासी महिलाओं की भूमिका एक ऐसे क्रांतिकारी पहलू को उजागर करती है, जिसे लंबे समय तक इतिहास के मुख्यधारा में उपेक्षित किया गया है। जल, जंगल और जमीन से जुड़ी ये महिलाएं केवल सामाजिक और सांस्कृतिक अस्तित्व की रक्षा में ही नहीं जुटीं, बल्कि उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध की अग्रिम पंक्ति में खड़े होकर अद्वितीय साहस और नेतृत्व का परिचय दिया। संथाल विद्रोह (1855), बिरसा मुंडा आंदोलन (1899), तेभागा आंदोलन (1946), और नक्सलबाड़ी विद्रोह (1967) जैसे कई आंदोलनों में आदिवासी महिलाओं की सक्रिय भागीदारी देखी गई। इन आंदोलनों में महिलाओं ने न केवल संगठित विरोध किया, बल्कि परंपरागत नेतृत्व भूमिकाओं को भी चुनौती दी और एक नई सामाजिक चेतना का निर्माण किया। यह अध्ययन आदिवासी महिलाओं के योगदान का सम्यक विश्लेषण करता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनका संघर्ष केवल स्वतंत्रता की प्राप्ति तक सीमित नहीं था, बल्कि वह एक व्यापक सामाजिक न्याय, समानता और आत्मनिर्भरता की लड़ाई थी।

विशिष्ट शब्द : आदिवासी, संगठित, विरोध, भागीदारी, आंदोलन, सामाजिक, संघर्ष इत्यादि ।

परिचय : भारत में अनुसूचित जनजातियाँ कुल जनसंख्या का लगभग 8.2 प्रतिशत हैं। यद्यपि भारत के इतिहास में विभिन्न जनजातियों की विशेषताओं और उनके बीच अंतर का वर्णन करने वाले मानवशास्त्रीय साहित्य की एक बड़ी मात्रा मौजूद है, भारत में जनजातीय आबादी के बीच महिलाओं की स्थिति को उजागर करने के लिए बहुत कम अंतर–अनुशासनात्मक शोध किया गया है। भारत में अनुसूचित जनजातियों के बीच महिलाओं की स्थिति का विश्लेषण करेगा। अनुसूचित जनजातियों, मुख्यधारा के हिंदुओं, साथ ही अनुसूचित जाति की आबादी की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रथाओं की लगातार तुलना की जाएगी। इस विश्लेषण के माध्यम से हम आदिवासी संस्कृतियों की विशिष्टता और इस शोध लेख के माध्यम से इस तथ्य को दिखाएंगे कि अनुसूचित जनजातियों की कई महिलाओं को हिंदू महिलाओं और अनुसूचित जाति की महिलाओं की तुलना में कम भेदभाव का सामना करना पड़ता है।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास केवल शहरों, राजधानियों और प्रमुख राजनीतिक नेताओं तक सीमित नहीं था, बल्कि इसके अनेक अध्याय जंगलों, पहाड़ों और दूरदराज के गांवों में भी रचे गए।[1] इन अनदेखे और अक्सर उपेक्षित अध्यायों में आदिवासी समाज का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है, और इस समाज की महिलाओं की भूमिका तो और भी अधिक प्रेरणादायक रही है। आदिवासी महिलाएं न केवल अपने समुदाय की रक्षा में आगे आईं, बल्कि उन्होंने अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह, असहयोग, आर्थिक बहिष्कार और सांस्कृतिक प्रतिरोध जैसे विभिन्न रूपों में संघर्ष किया।[2]

इन महिलाओं ने जल, जंगल और जमीन की रक्षा के साथ–साथ अपनी पहचान, संस्कृति और आत्मनिर्भरता की लड़ाई भी लड़ी। बिरसा मुंडा आंदोलन, संथाल विद्रोह, तेभागा आंदोलन, और नक्सलबाड़ी जैसे आंदोलनों में आदिवासी महिलाओं की भागीदारी ने यह स्पष्ट कर दिया कि स्वतंत्रता केवल राजनीतिक आजादी नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और अधिकारों की प्राप्ति का भी संघर्ष है।[3]

ऐसी अनेक महिलाएं थीं जिन्होंने विपरीत परिस्थितियों में भी अत्यंत साहस, नेतृत्व क्षमता और संगठन शक्ति का परिचय दिया। रानी दुर्गावती, जिसने मुगलों और बाद में ब्रिटिशों के विरुद्ध संघर्ष किए, झारखंड की फूलो–झानो बहनें, जिन्होंने संथाल विद्रोह में अंग्रेजों के खिलाफ हथियार उठाए, तेलंगाना आंदोलन में भाग लेने वाली 20वीं सदी में तेभागा व नक्सलबाड़ी आंदोलनों में सक्रिय रहीं कई अनाम

* सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग, नालंदा महिला कॉलेज, बिहार शरीफ
E-mail : bably7dos@gmail.com, Mob. : 7004953722

आदिवासी महिलाएं, इन सभी ने यह सिद्ध कर दिया कि आदिवासी महिलाएं न केवल आंदोलनों की सहभागी थीं, बल्कि वे स्वाधीनता की मशाल थामे अगुवा भी थीं।

यह अध्ययन इन प्रमुख आदिवासी महिलाओं की भूमिका को उजागर करने का प्रयास है, जिनका योगदान भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में अब तक अपेक्षाकृत कम पहचाना गया है। उनका संघर्ष आज भी हमें प्रेरणा देता है कि सच्ची स्वतंत्रता केवल राजनीतिक आजादी नहीं, बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक आत्मनिर्भरता की प्राप्ति में भी निहित है।[4]

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम एक बहुआयामी आंदोलन था, जिसमें विविध सामाजिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक पृष्ठभूमियों से आए लाखों लोगों ने भाग लिया। जहां एक ओर मुख्यधारा में गांधी, नेहरू, सुभाष चंद्र बोस जैसे नेताओं को याद किया जाता है, वहीं दूसरी ओर अनेक क्षेत्रीय और जनजातीय संघर्षों में भाग लेने वाली आदिवासी महिलाओं की भूमिका को या तो नजरअंदाज किया गया या सीमित रूप में ही दर्ज किया गया।[5] लेकिन सत्य यह है कि आदिवासी महिलाएं, विशेषकर भारत के झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, तेलंगाना, असम और पश्चिम बंगाल जैसे क्षेत्रों में, अपने समुदायों के लिए नेतृत्व करते हुए स्वतंत्रता के संघर्ष का अहम हिस्सा बनीं।

इन महिलाओं की भागीदारी केवल राजनीतिक विरोध तक सीमित नहीं थी, बल्कि उन्होंने सामाजिक जागरूकता, पारंपरिक संसाधनों की रक्षा, और औपनिवेशिक नीतियों के खिलाफ जन आंदोलन खड़े करने में अग्रणी भूमिका निभाई। उन्होंने जंगलों और पहाड़ों में रहकर गुरिल्ला युद्ध की रणनीति अपनाई, जनसभाएं कीं, ब्रिटिश अधिकारियों का विरोध किया और अपने समुदाय को संगठित रखा। इनका संघर्ष अक्सर दोहरा था, एक ओर उपनिवेशवादी दमन से लड़ाई, और दूसरी ओर पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचनाओं में अपने अस्तित्व और अधिकार की लड़ाई।[6]

रानी दुर्गावती : गोंडवाना की वीरांगना, जिन्होंने मुगलों और उनके बाद के शासकों के विरुद्ध संघर्ष किया और अंततः वे वीरगति को प्राप्त की।

फूलो और झानो : संथाल विद्रोह (1855) के दौरान दो बहनों ने ब्रिटिश सेना के खिलाफ हथियार उठाए और आदिवासी क्रांति की मिसाल पेश की।[7]

समक्का और सारक्का : तेलंगाना क्षेत्र में हुए कोया आदिवासियों के विद्रोह की नायिकाएं, जिन्होंने राज्य सत्ता और अत्याचारों का डटकर विरोध किया।

झलकारी बाई : भले ही वे दलित समाज से थीं, पर आदिवासी और ग्रामीण महिलाओं के लिए प्रेरणास्रोत बन गईं, जिन्होंने झांसी की रानी लक्ष्मीबाई की सेना में नेतृत्व किया।[8]

बीसवीं सदी में भी जब भारत में किसानों और मजदूरों के अधिकारों को लेकर आंदोलन तेज हुए, तब आदिवासी महिलाओं की भूमिका पहले से भी अधिक सक्रिय हो गई। तेभागा आंदोलन (बंगाल,1946)और नक्सलबाड़ी आंदोलन (पश्चिम बंगाल, 1967) में महिलाओं ने पुलिस और सेना के दमन का सामना करते हुए मोर्चा संभाला।

इन आंदोलनों में आदिवासी महिलाएं केवल 'पीड़ित' नहीं थीं, वे सक्रिय प्रतिरोधकर्मी, रणनीति–निर्माता, और आंदोलन की धुरी थीं।[9] उन्होंने अपने पारंपरिक ज्ञान, संगठन शक्ति और सांस्कृतिक एकजुटता के बल पर एक ऐसा प्रतिरोध खड़ा किया जो आज भी प्रेरणादायक है।

'भारत माता' और राष्ट्रीयता की भावना

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान आदिवासी महिलाओं ने 'भारत माता' का विचार राष्ट्रीयता की भावना को जागरूक करने का एक शक्तिशाली प्रतीक बन गया। इस विचार ने महिलाओं को सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए प्रेरित किया। 'भारत माता' के माध्यम से महिलाओं की भूमिका को राष्ट्रीय आंदोलन में मान्यता मिली, और उन्हें ब्रिटिश शासन के खिलाफ लड़ाई में सक्रिय भागीदार के रूप में देखा जाने लगा। इसने महिलाओं के लिए सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने और विभिन्न रूपों में प्रतिरोध करने का मार्ग प्रशस्त किया।

सामूहिक प्रतिरोध में महिलाओं का योगदान

आदिवासी महिलाओं का समर्थन स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण साबित हुआ, विशेष रूप से विदेशी कपड़ों के बहिष्कार और दुकानों के पिकेटिंग जैसे प्रभावी प्रतिरोध के रूपों में। महिलाओं ने न केवल इन आंदोलनों में हिस्सा लिया, बल्कि उन्हें संगठित और संचालित भी किया।[10] उनका योगदान राष्ट्रीय आंदोलन को संगठित करने और जनसमर्थन जुटाने में महत्वपूर्ण रहा।

महिला बौद्धिकता और नेतृत्व

आदिवासी महिलाओं ने स्वतंत्रता संग्राम में नेतृत्व की भूमिका निभाई और महिलाओं को बड़े पैमाने पर इस आंदोलन में शामिल किया। उन्होंने एक मध्यवर्ती सामाजिक स्थान का निर्माण किया, जिसमें महिलाएं

घर और सार्वजनिक जीवन के बीच स्वतंत्र रूप से अपनी भूमिका निभा सकीं। इससे न केवल महिलाओं का सशक्तिकरण हुआ, बल्कि उन्हें घरेलू बंदिशों से बाहर निकालकर सार्वजनिक जीवन, पेशे और शासन में अपनी जगह बनाने का अवसर मिला।[11] यह न केवल राष्ट्रीय आंदोलन को मजबूती प्रदान करता है, बल्कि इससे लैंगिक समानता के द्वार भी खुलते हैं।

अतः इस भूमिका में वे केवल 'सहयोगी' नहीं थीं, बल्कि कई बार नेतृत्वकर्ता, रणनीतिकार और प्रेरणास्रोत भी बनीं। उनके संघर्षों की यह गाथा मुख्यधारा के इतिहास में भले ही कम दर्ज हुई हो, लेकिन यह भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को एक समग्र दृष्टिकोण से समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है। यह अध्ययन इस बात पर प्रकाश डालता है कि किस प्रकार आदिवासी महिलाओं ने अपने अदम्य साहस, संगठन शक्ति और सामूहिक चेतना से अंग्रेजी सत्ता को चुनौती दी और स्वतंत्रता की अलख जगाई।

उद्देश्य :–

1. आदिवासी महिलाओं की ऐतिहासिक भूमिका को उजागर करना ।
2. सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्षों की व्याख्या करना ।
3. महिला नेतृत्व और सहभागिता का विश्लेषण करना ।
4. इतिहास में हाशिए पर रखे गए दृष्टिकोण को केंद्र में लाना ।
5. वर्तमान संदर्भ में प्रेरणा प्राप्त करना ।

निष्कर्षः निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास केवल कुछ चुने हुए नेताओं या शहरी आंदोलनों तक सीमित नहीं था, बल्कि यह एक व्यापक जनआंदोलन था जिसमें समाज के हर वर्ग ने अपनी अहम भूमिका निभाई। इस संघर्ष की एक अत्यंत महत्वपूर्ण, परंतु लंबे समय तक उपेक्षित, धारा रही है आदिवासी महिलाओं की क्रांतिकारी भागीदारी। इन महिलाओं ने अपने पारंपरिक जीवन, जंगलों और संस्कृति की रक्षा के साथ–साथ औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध भी संगठित और सशक्त प्रतिरोध किया। चाहे वह रानी दुर्गावती जैसी शासक हों, फूलो–झानो जैसी वीरांगनाएं और नक्सलबाड़ी आंदोलनों में भाग लेने वाली साधारण किसान महिलाएं इन सभी ने यह सिद्ध किया कि स्वतंत्रता का अर्थ केवल राजनीतिक मुक्ति नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक अस्मिता और आर्थिक अधिकारों की मांग है।

इन आदिवासी महिलाओं ने न सिर्फ अत्याचारों का सामना किया, बल्कि अपने नेतृत्व, साहस और संगठन शक्ति से कई बार पूरे आंदोलन की दिशा बदल दी। उनका संघर्ष दोहरा था, एक ओर विदेशी सत्ता से मुक्ति, और दूसरी ओर समाज के भीतर व्याप्त पितृसत्ता और भेदभाव के विरुद्ध। आज जब हम भारत के स्वतंत्रता संग्राम की पुनः समीक्षा करते हैं, तो यह अत्यंत आवश्यक है कि आदिवासी महिलाओं के इस अद्वितीय योगदान को मुख्यधारा में लाया जाए, ताकि इतिहास का यह मौन अध्याय न्याय पा सके।

इस निष्कर्ष से हमें यह सीख मिलती है कि सच्ची स्वतंत्रता केवल शासन परिवर्तन में नहीं होती, बल्कि हर व्यक्ति, विशेषकर समाज के आदिवासी महिलाओं का योगदान इसी व्यापक स्वतंत्रता की मिसाल है।

संदर्भ सूची

1. दत्त, के0 के0, बिहार में स्वातंत्र्य आन्दोलन का इतिहास, 2013, खंड–3, पृ0 34
2. बिहार की महिलाएँ, सं0 शिवपूजन सहाय, 2014, पृ0 332
3. शर्मा,प्र.(2014), भारतीय महिला आंदोलन का इतिहास, जयपुर, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृष्ठ– 43
4. अमरेन्द्र कुमार, पूर्वोक्त पृष्ठ–12
5. सिन्हा, सच्चिदानन्द, सम इमीनेंट बिहार कन्टेम्परोरीज, 1944, पृ0 170
6. चौधरी,सु0(2018), तेभागा आंदोलन, एक ऐतिहासिक समीक्षा, कोलकाता, लोक संवाद प्रकाशन, पृष्ठ–29
7. अग्रवाल, सी0 (2016), वीरांगनाएँ, इतिहास की अनकही गाथाएँ, भोपाल, नारी शक्ति पब्लिकेशन ।
8. राम आहूजाः भारतीय समाज, रावत पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, 2002, पृ0–03
9. उदय सिंह राजपूतः आदिवासी विकास गैरसरकारी संगठन, रावत पब्लिकेशन्स, पृ0 1
10. प्रो. गुप्ता, शर्माः सामाजिक मानवशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, पृ0 190, 192
11. मिढ़ ताला रानी (2009) Problems of Tribal Education in India, नई दिल्लीः कनिष्ठ प्रकाशन, पृ0 67

प्राचीन भारतीय इतिहास में स्तूपों का साहित्यिक एवं पुरतात्विक स्रोत

डॉ. नीतीश कुमार*

सार :

प्रस्तुत अध्ययन ''प्राचीन भारतीय इतिहास में स्तुपों का साहित्यिक एवं पुरतात्विक स्रोत'' का अध्ययन है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुशीलन में स्तूप अत्यंत महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक, धार्मिक तथा स्थापत्य धरोहर के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। वे केवल बौद्ध श्रद्धा के प्रतीक मात्र नहीं थे, बल्कि तत्कालीन सामाजिक संरचना, आर्थिक क्रियाकलापों, कलात्मक उन्नति और राजकीय संरक्षण के भी प्रभावशाली प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। स्तूपों की परंपरा का आरंभ बुद्ध के महापरिनिर्वाण के उपरांत उनके धातु–अवशेषों के संरक्षण से संबंधित था, परंतु समय के साथ उनका रूपांतरण स्मृति–चिह्न, तीर्थस्थल, शिक्षण केंद्र तथा सांस्कृतिक संपर्क के महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में हुआ। इस शोध आलेख में स्तूपों के संदर्भ में उपलब्ध साहित्यिक स्रोतों जैसे त्रिपिटक, जातक कथाएँ, अशोकावदान, महावंश, दीपवंश तथा चीनी यात्रियों के यात्रा–वृत्तकृका सम्यक् परीक्षण किया गया है। इसके अतिरिक्त सांची, भरहुत, अमरावती, सारनाथ, कौशांबी और तक्षशिला से प्राप्त पुरातात्त्विक उत्खननों, अभिलेखीय साक्ष्यों, मूर्तिकला तथा स्थापत्य अवशेषों का तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है।

विशिष्ट शब्द : स्तूप, बौद्ध धर्म, त्रिपिटक, पुरातत्व, सांची, भरहुत, अशोक, अभिलेख, स्थापत्य, तीर्थ आदि।

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय इतिहास की संरचना बहुआयामी स्रोतों पर आधारित है, जिनमें धार्मिक स्मारक, स्थापत्य अवशेष, अभिलेख, मूर्तिकला तथा साहित्यिक परंपराएँ विशेष महत्व रखती हैं। इन स्रोतों में स्तूप एक ऐसा माध्यम है, जो धर्म, कला, समाज और राजनीति के अंतःसंबंधों को एक साथ अभिव्यक्त करता है। स्तूप न केवल बौद्ध श्रद्धा का प्रतीक है, बल्कि वह प्राचीन भारतीय मानसिकता, सामुदायिक भागीदारी और सांस्कृतिक निरंतरता का भी द्योतक है।

स्तूपों की परंपरा का प्रारंभ बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात उनके शारीरिक अवशेषों के संरक्षण से जुड़ा हुआ माना जाता है। महापरिनिर्वाण सूत्र में उल्लेख है कि बुद्ध के अवशेषों को विभाजित कर विभिन्न गणराज्यों में स्तूप निर्मित किए गए। इस प्रारंभिक चरण में स्तूप स्मृति और श्रद्धा के केंद्र थे, किंतु शीघ्र ही ये तीर्थ, शिक्षा और सांस्कृतिक संचार के प्रमुख स्थल बन गए।[1] परिणामस्वरूप, स्तूपों के इर्द–गिर्द विहार, चौत्य, बाजार और आवासीय बस्तियों का विकास हुआ, जिसने उन्हें जीवंत सामाजिक संस्थाओं का रूप दे दिया।

मौर्य सम्राट अशोक के शासनकाल में स्तूप निर्माण को अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिला। अशोक द्वारा धातुओं के पुनर्वितरण और नए स्तूपों की स्थापना ने इस परंपरा को साम्राज्यव्यापी स्वरूप प्रदान किया। इस प्रक्रिया ने बौद्ध धर्म को एक संगठित और दृश्य रूप में प्रस्तुत किया, जिससे वह जनसाधारण तक अधिक प्रभावी ढंग से पहुँच सका। स्तूप, इस प्रकार, धार्मिक प्रचार के साथ–साथ राजकीय वैधता और सांस्कृतिक एकीकरण के साधन भी बन गए।

यदि स्थापत्य दृष्टि से देखा जाए तो स्तूप भारतीय वास्तुकला की मौलिकता और तकनीकी दक्षता का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। प्रारंभिक मिट्टी के टीलों से विकसित होकर ये विशाल पत्थर निर्मित स्मारकों में परिवर्तित हुए, जिनमें तोरण, वेदिका, हरमिका और छत्रावली जैसे अंग जुड़े। इन पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ और प्रतीक उस समय की धार्मिक धारणाओं, लोकजीवन, वेशभूषा, व्यापारिक गतिविधियों और कला कौशल का जीवंत चित्र प्रस्तुत करते हैं।[2] विशेष रूप से सांची, भरहुत और अमरावती के स्तूप भारतीय शिल्प परंपरा के उत्कर्ष को दर्शाते हैं।

इतिहास लेखन की दृष्टि से स्तूपों का महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है क्योंकि ये साहित्यिक परंपराओं की पुष्टि करने वाले भौतिक प्रमाण प्रदान करते हैं। त्रिपिटक, जातक और अवदान साहित्य में जिन

* Ph.D., NET-JRF (Archaeology), प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
Mob No. : 8340255616, E-mail id : nitishk314@gmail.com

स्थलों और घटनाओं का उल्लेख मिलता है, पुरातात्त्विक उत्खनन उनसे संबंधित वास्तविक अवशेष प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार, साहित्य और पुरातत्व के बीच एक संवाद स्थापित होता है, जो अतीत की अधिक विश्वसनीय व्याख्या संभव बनाता है।

साथ ही, स्तूपों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय समाज में धर्म केवल आध्यात्मिक विषय नहीं थाय वह आर्थिक और सामाजिक जीवन से गहराई से जुड़ा था। दान लेखों में शिल्पियों, व्यापारियों, महिलाओं और साधारण गृहस्थों की भागीदारी इस बात का संकेत देती है कि स्तूप निर्माण एक सामूहिक उपक्रम था।[3] यह सहभागिता समाज की संरचना, वर्ग संबंधों और धार्मिक उदारता को समझने में सहायक होती है।

विदेशी यात्रियों – विशेषकर फाह्यान और ह्वेनसांग के विवरण इस अध्ययन को और समृद्ध करते हैं। उन्होंने जिन स्तूपों का वर्णन किया, उनसे हमें न केवल स्थापत्य की जानकारी मिलती है, बल्कि उस समय की धार्मिक स्थिति, तीर्थ व्यवस्था और शिक्षा संस्थानों की भी झलक प्राप्त होती है।

स्तूपों के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए इतिहासकारों को मुख्यतः दो प्रकार के स्रोत प्राप्त होते हैं–

1. साहित्यिक
2. पुरातात्त्विक

दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करना ऐतिहासिक सत्य तक पहुँचने का प्रमुख माध्यम है। यही इस अध्ययन का मूल आधार है।

स्तूप की अवधारणा और स्वरूप

'स्तूप' शब्द संस्कृत के 'स्थूप' से बना है, जिसका अर्थ है ढेर या टीला। बौद्ध परंपरा में यह बुद्ध या महात्माओं के अवशेषों को सुरक्षित रखने वाला पवित्र स्मारक है। सामान्यतः स्तूप के मुख्य भाग होते हैं–अंड (गुम्बद), हरमिका, यष्टि, छत्रावली, वेदिका और तोरण।

इन संरचनात्मक अंगों का प्रतीकात्मक अर्थ भी है–

- अंड : ब्रह्मांड या बुद्ध के ज्ञान का प्रतीक
- छत्र : सम्मान और आध्यात्मिक श्रेष्ठता
- वेदिका : पवित्र सीमा

अतः स्तूपों का अध्ययन केवल अतीत की स्मृतियों का अन्वेषण नहीं, बल्कि भारतीय सभ्यता की उस गतिशील प्रक्रिया को समझना है, जिसमें श्रद्धा, सत्ता, कला और समाज एक साथ कार्य करते हैं।

इन्हीं आयामों को ध्यान में रखते हुए यह शोध स्तूपों से संबंधित साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों का तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है, ताकि प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण में उनकी भूमिका को अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सके।

साहित्य समीक्षा

इक्कीसवीं सदी में प्राचीन भारतीय स्तूपों के अध्ययन ने नई पद्धतियों, अंतःविषयी दृष्टिकोणों और सैद्धांतिक ढाँचों को अपनाया है। अब स्तूपों को केवल धार्मिक स्मारक या कला–नमूने के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि उन्हें सामाजिक स्मृति, दान अर्थव्यवस्था, तीर्थ नेटवर्क, पहचान निर्माण और राजनीतिक वैधता के केंद्र के रूप में समझने का प्रयास किया जा रहा है।

रोमिला थापर (2002) ने धर्म और राज्य के संबंधों की पुनर्व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया कि अशोक द्वारा स्तूपों का संरक्षण साम्राज्य की नैतिक सत्ता को स्थापित करने का माध्यम था। उनके अनुसार, स्तूपों के माध्यम से धम्म को दृश्य रूप दिया गया, जिससे शासन की वैचारिक स्वीकृति मजबूत हुई।[4–5]

ग्रेगरी शोबेन (2004) ने अभिलेखीय साक्ष्यों का विश्लेषण करते हुए यह तर्क दिया कि बौद्ध धर्म के वास्तविक व्यवहार को समझने के लिए केवल ग्रंथ पर्याप्त नहीं हैं। स्तूपों पर अंकित दान लेख यह दर्शाते हैं कि भिक्षु, भिक्षुणी, व्यापारी, गिल्ड और महिलाएँ सभी इस धार्मिक संस्कृति के सक्रिय भागीदार थे। इससे बौद्ध संस्थाओं की आर्थिक नींव और सामाजिक विविधता स्पष्ट होती है।[6]

उपेंद्र सिंह (2008) ने पुरातत्व और सामाजिक इतिहास को जोड़ते हुए स्तूपों को सांस्कृतिक परिदृश्य का हिस्सा माना। उन्होंने यह दिखाया कि स्तूप प्रायः व्यापारिक मार्गों और शहरी केंद्रों के समीप स्थित थे, जिससे तीर्थ और वाणिज्य का परस्पर संबंध स्थापित होता है।[7]

हिमांशु प्रभा राय (2012) ने समुद्री और स्थल व्यापार मार्गों के संदर्भ में बौद्ध स्थलों की भूमिका पर प्रकाश डाला। उनके अनुसार, स्तूप केवल धार्मिक नहीं, बल्कि संपर्क और संचार के वैश्विक नेटवर्क से जुड़े हुए थे, जिन्होंने विचारों और वस्तुओं के आदान–प्रदान को संभव बनाया।[8]

जेसन नील (2015) जैसे कला इतिहासकारों ने अमरावती और अन्य दक्षिण भारतीय स्तूपों की दृश्य संस्कृति का अध्ययन करते हुए यह बताया कि मूर्तिकला स्थानीय समाज की आकांक्षाओं और संरक्षक वर्गों की पहचान को व्यक्त करती है।[9]

लार्स फोगेलिन (2018) ने पुरातत्व, अनुष्ठान और स्थानिक संगठन के आधार पर यह विश्लेषण किया कि स्तूपों के आसपास धार्मिक गतिविधियाँ किस प्रकार संचालित होती थीं। इससे यह समझ विकसित हुई कि स्मारक केवल स्थिर संरचनाएँ नहीं थे, बल्कि निरंतर उपयोग में आने वाले जीवंत स्थल थे।[10]

पीटर स्किलिंग (2019) ने बौद्ध अवशेषों और धातु पूजा की परंपरा पर बल देते हुए स्तूपों को पवित्रता के भौतिक केंद्र के रूप में परिभाषित किया। उन्होंने यह भी बताया कि धातुओं की उपस्थिति ने तीर्थ यात्रा की धारणा को सुदृढ़ किया।[11]

नवीनतम शोध प्रवृत्तियों में डिजिटल आर्कियोलॉजी, जीआईएस मैपिंग और माइक्रो–रीजनल स्टडीज का प्रयोग बढ़ा है। इनसे यह स्पष्ट हुआ है कि स्तूपों का वितरण आकस्मिक नहीं थाय वे सुनियोजित सांस्कृतिक भूगोल का हिस्सा थे।

समग्र रूप से देखा जाए तो वर्तमान इतिहासलेखन स्तूपों को बहुस्तरीय संस्थान मानता है–जहाँ धर्म, अर्थव्यवस्था, राजनीति, स्मृति और कला एक–दूसरे से गहराई से जुड़े हैं। फिर भी, साहित्यिक आख्यानों और भौतिक साक्ष्यों के बीच अंतरों की व्याख्या एक महत्वपूर्ण चुनौती बनी हुई है। यही वह क्षेत्र है जहाँ आगे के शोध की व्यापक संभावनाएँ मौजूद हैं।

उद्देश्य

1. स्तूपों से संबंधित साहित्यिक प्रमाणों का विश्लेषण करना।
2. पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर उनके वास्तविक स्वरूप को समझना।
3. दोनों स्रोतों के समन्वय से ऐतिहासिक पुनर्निर्माण करना।
4. स्तूपों के सामाजिक–आर्थिक प्रभाव को स्पष्ट करना।

परिकल्पना

1. स्तूप केवल धार्मिक स्मारक नहीं, बल्कि सामाजिक सहभागिता के केंद्र थे।
2. साहित्यिक और पुरातात्विक स्रोत एक–दूसरे के पूरक हैं।
3. राजकीय संरक्षण ने स्तूप परंपरा के प्रसार में निर्णायक भूमिका निभाई।

निष्कर्ष

उपर्युक्त तथ्यों के अध्ययन के आधार पर हम देखते है कि साहित्यिक विवरण जहाँ धार्मिक आदर्श और प्रतीकवाद प्रदान करते हैं, वहीं पुरातात्विक प्रमाण वास्तविक संरचना, कालक्रम, कला–शैली और सामाजिक सहभागिता का ठोस आधार देते हैं। दोनों प्रकार के स्रोत मिलकर स्तूपों के इतिहास को प्रमाणिकता प्रदान करते हैं। स्तूप प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में बहुआयामी स्रोत हैं। इनके माध्यम से हमें धर्म, कला, समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीति की परस्परता का ज्ञान होता है। साहित्यिक स्रोत आदर्श और विश्वास को प्रस्तुत करते हैं, जबकि पुरातात्विक स्रोत वास्तविकता को प्रमाणित करते हैं। दोनों को साथ पढ़े बिना पूर्ण इतिहास संभव नहीं है।

अतः स्तूप भारतीय सांस्कृतिक विरासत के ऐसे प्रतीक हैं जो अतीत को वर्तमान से जोड़ते हैं।

सन्दर्भ सूची

1. मुखर्जी, राधाकुमुद (1951) प्राचीन भारत, दिल्ली, मैकमिलन, पृ0 47
2. मजूमदार, आर. सी (1977), प्राचीन भारत, मुंबई, भारतीय विद्या भवन, पृ0 17
3. शर्मा, रामशरण (1995), प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति और सामाजिक संरचनाएँ, नई दिल्ली, राजकमल, पृ0 93
4. थापर, रोमिला (2002) अशोक तथा मौर्य साम्राज्य का पतन (हिंदी संस्करण). नई दिल्ली, ग्रंथशिल्पी, पृ0 67
5. थापर, रोमिला (2013), प्रारंभिक भारतः उत्पत्ति से 1300 ई. (हिंदी अनुवाद). नई दिल्ली, पियर्सन, पृ0 58
6. शोबेन, ग्रेगरी (2004) बौद्ध मठवाद से संबंधित लेख, अभिलेखीय साक्ष्यों पर आधारित अध्ययन, होनोलूलू, यूनिवर्सिटी ऑफ हवाई प्रेस, पृ0 19

7. सिंह, उपेंद्र (2008)प्राचीन एवं प्रारंभिक मध्यकालीन भारत का इतिहास (हिंदी संस्करण) दिल्ली, पियर्सन,पृ0 103
8. राय, हिमांशु प्रभा (2012) प्राचीन भारत में व्यापार और धर्म (हिंदी अनुवाद). नई दिल्ली, पृ0 113
9. नीलिस, जेसन (2011) प्रारंभिक बौद्ध धर्म में तीर्थयात्रा और पवित्र स्थान, भारत से मध्य एशिया तक व्यापारिक और सांस्कृतिक मार्गों का अध्ययन, कैम्ब्रिज, एमए, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ0 76
10. फोगेलिन, लार्स (2015) प्रारंभिक बौद्ध धर्म का पुरातत्व, कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ0 48
11. स्किलिंग, पीटर (2019) बौद्ध धर्म में अवशेष और स्तूप पूजा की परंपराएँ. में बौद्ध अनुष्ठान और पवित्रता पर अध्ययन (संपादित ग्रंथ), बैंकॉक, चुलालोंगकोर्न विश्वविद्यालय प्रेस, पृ0 28

◀◀ ▶▶

भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति, योगदान एवं शैक्षिक समस्याओं का अध्ययन

डॉ. शारदा सिंह*

किसी भी सभ्य समाज की स्थिति उस समाज में स्त्रियों की दशा को देख कर ज्ञात किया जा सकता है। महिलाओं की स्थिति में समय-समय पर देश-काल के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि भारतीय समाज में सदैव से ही स्त्रियों के सम्मान एवं महत्व को मान्यता प्रदान की जाती रही है। जिस युग में स्त्री के महत्व को उपेक्षित करके उसके गौरव को धूमिल करने का प्रयास किया गया, उस युग का समाज शीघ्र ही विकृत होकर सुख, शान्ति और समृद्धि से बहुत दूर चला गया। सृष्टि की रचना में महिलाओं और पुरुषों दोनों का समान महत्व है।

बिना नारी के सृष्टि की रचना, उत्पत्ति अथवा विकास का प्रश्न ही नहीं उठता। नारी की प्रेरणा, सहयोग, सेवा, त्याग आदि ही मानव को धर्म पथ पर आरूढ़ करके अर्थोपार्जन की दिशा में प्रेरित करती है। वास्तव में देखा जाये तो जीविकोपार्जन अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्ति के संघर्षमय समय में जिस संकल्प, अपराजेयता, कार्यक्षमता, परिश्रम अथवा आत्मबल की आवश्यकता होती है, उसको उत्पन्न करने में नारी का योगदान महत्वपूर्ण होता है।

भारतीय संविधान में पुरुषों एवं महिलाओं को समानं अधिकार का दर्जा दिये जाने के बावजूद इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि विकास और सामाजिक स्तर की दृष्टि से महिलाएं अभी पुरूषों से काफी पीछे हैं। भारतीय समाज में आज भी महिला कमजोर वर्गों में शामिल है। महिला परिवार की आधारशिला है और सामाजिक विकास बहुत कुछ उसी के सुप्रयासों से सम्भव है । जिस समाज की महिलाएं उपेक्षा और तिरस्कार का शिकार होती है, वह समाज कभी प्रगति नहीं कर सकता है। महिलाओं के सामने सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक, व्यवसायिक एवं अनेकों समस्याएं रहती है। जिसके कारण उन्हें जीवन में आगे बढ़ने एवं व्यक्तित्व का समुचित विकास करने का अवसर नहीं मिलता।

समय-समय पर भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन हुए हैं, जिससे महिलाओं की स्थिति में दिन-प्रतिदिन गिरावट आती गई। हमारे समाज के निर्माण में महिलाओं की भूमिका उतनी ही प्रमुख है जितनी की शरीर के जीवित रहने के लिए जल, वायु और भोजन । प्राचीन समय से लेकर आधुनिक समय तक महिलाएं उपेक्षित ही रही हैं, उन्हें कम से कम सुविधाओं, अधिकरों और उन्नति के अवसरों में रखा जाता रहा है, इसी कारण महिलाओं की स्थिति निचले स्तर पर है।

स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार *"कोई राष्ट्र तब तक अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता जब तक कि उसका प्रत्येक नागरिक उस विकास में भागीदार नहीं बनता।"*

भारतीय समाज परंपरागत रूप से एक पितृसत्तात्मक समाज है। मगर शिक्षा के क्षेत्र में महिलाएं पुरुषों के स्थापित वर्चस्व को चुनौती दे रही हैं, अगर यह बात कहें तो शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी। शिक्षा के क्षेत्र में महिलाएं पुरूषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ रही हैं, तो कई क्षेत्रों में उनको पीछे भी छोड़ रही हैं। महिला शिक्षकों की सशक्त मौजूदगी भारतीय समाज में बड़े बदलाव का संकेत है।

हालांकि इस बदलाव के साथ ही पुरूषों की मानसिकता और पितृसत्तात्मक सोच में तेजी से बदलाव नहीं आया है, इस कारण से उन्हें विभिन्न तरह की चुनौतियों का सामना अपने कार्यस्थल और परिवार में करना पड़ रहा है। मगर महिलाएं इस चुनौती का बखूबी मुकाबला कर रही हैं और साथ ही साथ आने वाले पीढ़ी के लिए

* असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र, हंडिया पीजी कालेज, हंडिया

रास्ते को ज्यादा सुगम और कंटक विहीन भी बना रही हैं। हमारे समाज में आज भी महिलाओं के लिए शिक्षण कार्य का पेशा सबसे सुरक्षित माना जाता है। मगर उनकी मौजूदगी शिक्षा, चिकित्सा, प्रबंधन, पत्रकारिता, साहित्य और सामाजिक विज्ञान के साथ-साथ विज्ञान के विभिन्न विधाओं में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

रूढ़िवादी सांस्कृतिक नजरिए के कारण लड़कियों को अक्सर पाठशाला जाने की अनुमति नहीं दी जाती है। इसका एक कारण गरीबी भी देखा जा सकता है क्योंकि घर की आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण भी माता-पिता अपने सभी बच्चों शिक्षा देने में असमर्थ होते हैं जिसके कारण वे अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज पाते और लड़कियों को भी अपने साथ मजदूरी पर ले जाना पड़ता है।

महिलाओं की शिक्षा पर बल देते हुए विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948) के ये ऐतिहासिक शब्द भी ध्यान देने योग्य निम्न है - 'शिक्षित स्त्री के बिना शिक्षित पुरूष हो ही नहीं सकता। यदि पुरुषों और स्त्रियों में से केवल किसी एक के लिए सामान्य शिक्षा का प्रावधान करना हो तो यह अवसर स्त्रियों को दिया जाना चाहिए क्योंकि यह शिक्षा स्वयंमेव अगली पीढ़ी को प्राप्त हो जायेंगी।'

सन् 1963 में वनस्थली विद्यापीठ में भाषण देते हुए जवाहर लाल नेहरू ने भी इसी भी इसी तथ्य को दोहराया था कि "*लड़के की शिक्षा केवल एक व्यक्ति की शिक्षा है परन्तु एक लड़की की शिक्षा सम्पूर्ण परिवार की शिक्षा है।*"

"*किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सर्वोत्तम पैमाना वहां की महिलाओं की स्थिति है।*" शिक्षा केवल अक्षर ज्ञान नहीं, बल्कि आत्म-सम्मान और अधिकारों की पहचान है। शिक्षा के माध्यम से सशक्तिकरण पर भी जोर देना चाहिए।

आज का भारतीय समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। एक ओर जहाँ महिलाएं अंतरिक्ष से लेकर राजनीति और खेल के मैदानों तक अपनी धाक जमा रही हैं, वहीं दूसरी ओर ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों में वे आज भी पितृसत्तात्मक बेड़ियों में जकड़ी हुई हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार महिला साक्षरता दर 65.46% थी, जो पुरुषों (82.14%) की तुलना में काफी कम है। हालांकि, हाल के वर्षों में सरकार की *'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ'* जैसी योजनाओं ने सकारात्मक बदलाव लाए हैं।

विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं का योगदान :-

शिक्षा ने महिलाओं को केवल साक्षर नहीं बनाया, बल्कि उन्हें आत्मनिर्भर और निर्णय लेने में सक्षम बनाया है:

- शैक्षिक एवं सामाजिक योगदान: सावित्रीबाई फुले से लेकर आधुनिक युग की शिक्षिकाओं तक, महिलाओं ने ज्ञान के प्रसार में अग्रणी भूमिका निभाई है।
- आर्थिक योगदान: आज महिलाएं स्टार्टअप्स, बैंकिंग और आईटी सेक्टर में महत्वपूर्ण पदों पर हैं, जिससे देश की जीडीपी में प्रत्यक्ष वृद्धि हो रही है।
- राजनीतिक एवं प्रशासनिक: पंचायत स्तर से लेकर संसद तक महिलाओं की भागीदारी ने नीति-निर्माण में संवेदनशीलता और समावेशिता को बढ़ावा दिया है।

प्रमुख शैक्षिक समस्याएं :-

शिक्षाशास्त्र के अध्ययन में यह पाया गया है कि महिलाओं की शिक्षा के मार्ग में आज भी कई गंभीर बाधाएं हैं:

1. सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूढ़िवादिता: कई समुदायों में आज भी यह माना जाता है कि लड़कियों का मुख्य कार्य घर संभालना है, इसलिए उनकी उच्च शिक्षा पर निवेश को 'व्यर्थ' समझा जाता है।
2. ड्रॉप-आउट (Drop-out) दर: प्राथमिक शिक्षा के बाद माध्यमिक स्तर पर पहुँचते-पहुँचते लड़कियों की स्कूल छोड़ने की दर बढ़ जाती है। इसके पीछे घरेलू काम का बोझ और छोटी उम्र में विवाह जैसे कारण प्रमुख हैं।

3. बुनियादी ढांचे का अभाव: ग्रामीण स्कूलों में अलग शौचालयों की कमी और स्कूलों का घर से बहुत दूर होना सुरक्षा की दृष्टि से एक बड़ी समस्या है।
4. डिजिटल डिवाइड: वर्तमान युग में जहाँ शिक्षा ऑनलाइन हो रही है, वहाँ लड़कों की तुलना में लड़कियों के पास मोबाइल और इंटरनेट तक पहुँच काफी सीमित है।

सुझाव एवं समाधान

- राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP 2020): इस नीति के तहत 'जेंडर इंक्लूजन फंड' (Gender Inclusion Fund) का प्रभावी क्रियान्वयन जरूरी है ताकि पिछड़ी लड़कियों को छात्रवृत्ति मिल सके।
- जागरूकता अभियान: समाज की मानसिकता बदलने के लिए सामुदायिक स्तर पर कार्यशालाएं आयोजित की जानी चाहिए।
- व्यावसायिक शिक्षा: लड़कियों को केवल किताबी ज्ञान न देकर कौशल आधारित शिक्षा दी जानी चाहिए ताकि वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो सकें।

शिक्षा वयस्क जीवन के प्रति स्त्रियों के विकास के लिए एक आधार के रूप में विशेष रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। शिक्षा अन्य अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए लड़कियों और महिलाओं को सक्षम करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती बहुत सी व्यक्तिगत समस्याओं को पुरुषों से नहीं कह सकने के कारण महिलाएं कठिनाई का सामना करती रहती हैं। अगर महिलाएँ शिक्षित हों तो वे अपने घरों की सभी समस्याओं का समाधान कर सकती हैं। स्त्री शिक्षा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विकास में मदद के साथ साथ आर्थिक विकास और एक राष्ट्र के सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि में भी मदद करती है। जो एक अच्छे समाज के निर्माण में मदद करती है। अतः हम कह सकते है कि भारतीय समाज के महिलाओं की स्थिति एवं योगदान पर विशेष रूप से ध्यान देकर उनकी शैक्षिक समस्याओं का निराकरण किया जाय तो वह एक सभ्य एवं सुशिक्षित परिवार नहीं बल्कि एक सभ्य एवं सुशिक्षित राष्ट्र के निर्माण में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है

निष्कर्षतः भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति में सुधार का सीधा संबंध उनकी शैक्षिक प्रगति से है। जब तक समाज में लिंग आधारित भेदभाव समाप्त नहीं होगा और लड़कियों को सुरक्षित व सुलभ शिक्षा का वातावरण नहीं मिलेगा, तब तक राष्ट्र का सर्वांगीण विकास संभव नहीं है। शिक्षा ही वह 'ब्रह्मास्त्र' है जिससे महिलाएं अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं कर सकती हैं और राष्ट्र निर्माण में बराबरी की भागीदार बन सकती हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

अग्रवाल जे. सी. (1998) - भारतीय नारी शिक्षा, विद्या विहार, नई दिल्ली।

आलम सैदुजफर - आत्म निर्भरता की प्रवृत्ति और धार्मिक सुरक्षा पर अध्ययन, आर.आई. ई., अजमेर।

कपिल एच. के. (2010) - आधुनिक मापन एवं मूल्यांकन, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

गुप्ता एस. पी. (1995) - सांख्यिकीय विधियाँ, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

पाण्डेय के.पी. (1991)- शैक्षिक अनुसंधान, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी। मुले जार्ज. जे(1936) - द साइन्स ऑफ एजुकेशनल रिसर्च ।

वेस्ट जे० डब्ल्यू (1998)- रिसर्च इन एजुकेशन, न्यू देलही प्रेन्टिस हाल आफ इण्डिया। हुसैन हाईन - द इन्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया आफ एजुकेशनल रिसर्च एण्ड स्टडीज टी. जेड. खरगमान प्रेस न्यूयार्क।

राय पारसनाथ (1999)- अनुसंधान परिचय, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल पब्लिकेशन, हॉस्पिटल रोड आगरा।

शर्मा डॉ जया (2017) - लिंगीय असमानता, विद्यालय एक समाज, विनोद पुस्तक मंदिर. आगरा

इयर बुक (2016) - अमर उजाला पब्लिकेशन लिमिटेड, सेक्टर नोएडा 2013

दैनिक जागरण समाचार पत्र - जागरण प्रकाशन लिमिटेड, वाराणसी उ. प्र. सारस्वत ऋतु (2017)-महिला समानता एवं संघर्ष

सारस्थत ऋतु (2017) - स्त्री विहिन परिवार, राजस्थान पत्रिका जयपुर।

शर्मा जी० एल० (2015) - सामाजिक मुद्दे, रावत पब्लिकेशन जयपुर ।
अजीज एन०पी० अब्दुल (2015) - भारत में महिला सशक्तिकरण, अनमोल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
www. hindi ki Duniya.com/social/ 10-02-2018 भारत में लिंग भेद
अग्रवाल, जे.सी. (2020). भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएं. आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली।
त्यागी, एस.के. (2018). शिक्षा के दार्शनिक और समाजशास्त्रीय आधार. अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।
Ministry of Women and Child Development: wcd.nic.in
UNESCO (Gender Equality in Education): unesco.org

सामाजिक न्याय पर जॉन रॉल्स और डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों की तुलना

सनी कुमार*

सारांश

सामाजिक न्याय की अवधारणा समकालीन युग की देन है जिसका केन्द्र बिन्दु एक समतामूलक समाज की स्थापना करना है जिसमें सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के स्वतंत्रता, अधिकार और समानता प्रदान कर समाज में एकता बन्धुत्व की भावना बनाये रखना है। सामाजिक न्याय को सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने के लिए जॉन रॉल्स और डॉ. भीमराव अम्बेडकर दोनों ने अभूतपूर्व कार्य किया। पश्चिमी जगत में जॉन रॉल्स एक उदारवादी विचारक हैं जिन्होंने उदारवादी व्यवस्था के अंतर्गत एक न्यायपूर्ण समाज स्थापित करने का प्रयास किया। उनके अनुसार न्याय समाज का केंद्रीय सदगुण है। मानवीय समाज द्वारा न्याय के नियमों का निर्माण किया गया। भारतीय समाज में व्यापत विभिन्न सामाजिक कुरोतियां पूर्व से ही समाज में एकता एवं अखण्डता के समक्ष चुनौतियों के रूप में कार्य करती रही है। अम्बेडकर ने जीवनपर्यंत न केवल सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से शोषित पीड़ित दलित, आदिवासी, पिछड़ों और महिलाओं में समाज सुधार के लिए शोध कार्य किए अपितु विभिन्न सामाजिक आंदोलनों तथा संवैधानिक एवं कानूनी सुधारों के माध्यम से सभी को बिना किसी भेदभाव के भागीदारी प्रदान की। उन्होनें भारत में लोकतंत्र को स्थापित करने का कार्य किया। उन्हें भारत में सामाजिक न्याय का पितामह भी कहा जाता है। रॉल्स और अम्बेडकर दोनों में जहां एक ओर समानता दिखायी पड़ती है वहीं दूसरी ओर तकनीकि और व्यवहारिक अन्तर भी दिखाई देता है। यह शोध पत्र उपरोक्त विचारकों द्वारा दिए गये सामाजिक न्याय की अवधारणा में तुलना करने के लिए लिखा गया है।

मूल शब्द— सामाजिक न्याय, समानता, वितरण, दलित, महिला सशक्तिकरण

प्रस्तावना

न्याय शब्द लैटिन भाषा के 'जस्टिया' शब्द से बना है जिसका अभिप्राय जोड़ना या सामंजस्य बनाये रखना है। किसी भी सभ्य समाज में सन्तुलन व सामंजस्य बनाये रखने के लिए के लिये दो उपाय है जिनमें पहला है 'दण्डित करना' तथा दूसरा है 'पुरस्कार देना'। सामान्यतः न्याय के दो मूल तत्व है 'समानता' व 'निष्पक्षता'। पाश्चात्य दर्शन में न्याय को एक विचार के रूप में स्थापना करने का श्रेय प्लेटो को जाता है। अर्नेस्अ बार्कर का कहना है कि न्याय प्लेटो के विचारों का मूल बिन्दू है।[1] भारतीय दर्शन में इसका पर्यायवाची शब्द 'धर्म' है जबकि ग्रीक दर्शन में 'सदगुण या नैतिकता' है। न्याय का अर्थ उचित, सही और तार्किक है। यह अनुचित, गलत और अतार्किकता का विरोध करता है। यह परिवर्तशील है जिसका आधार आत्म चेतना है।[2] समकालीन युग में न्याय का मूल अर्थ 'सामाजिक न्याय' से लिया जाता है। 20वीं सदी में सामाजिक न्याय की अवधारणा के तीव्र विकास के साथ ही उपरोक्त दोनों मूल्यों में व्यापत भिन्नता और भी अधिक स्पष्ट हुई है जिसके फलस्वरूप पश्चिमी पूंजीवादी देशों ने अपनी संवैधानिक योजना में 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' को प्रमुखता दी, वहीं दूसरी ओर, समाजवादी देशों ने समता आधारित 'सामाजिक न्याय' को प्रमुखता दी। 'सामाजिक न्याय' शब्द का प्रयोग पहली बार वर्ष 1840 में इटली के लुईगी तपारेली द एज़ेग्लिओ द्वारा किया गया था, जबकि इसको पहचान वर्ष 1848 में एंटोनियो रोस्मिनी सरबाली ने दिलाई। न्याय एक जटिल संकल्पना है जिसका प्रयोग कभी नैतिक रूप में तो कभी वैधानिक रूप में तथा कभी–कभी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक रूप में भी किया जाता है। न्याय की अवधारणा में प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक आते–आते अनेक मौलिक परिवर्तन देखने को प्राप्त हुए। उदारवादियों ने इसे अवसर की समानता और स्वतंत्रता, मार्क्सवादियों ने वर्गहीन समाज की स्थापना, तथा समाजवादियों ने लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं की

---

* शोधार्थी, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
Email ID - skumarhapur5@gmail.com, Mob. : 9897494430

[1] अर्नेस्ट बार्कर, ग्रीक पॉलिटिकल थ्योरी, लन्डन, 1952, पृ 153

[2] ओमप्रकाश गाबा, सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ 139

स्थापना और कुछ दार्शनिकों ने इसे उचित आचरण को अपनाना कहा।[3] परम्परागत दृष्टिकोण में न्याय के स्वरूप की धारणा करने के लिए एक न्यायपरक व्यक्ति की खोज की जाती थी। इनमें उन सदगुणों की खोज की जाती थी जो व्यक्ति को न्याय की ओर प्रेरित करें। मध्यकाल के अंतिम वर्षों में धर्म सुधार एवं पुर्नजागरण आंदोलन के फलस्वरूप धार्मिक अंधविश्वासों को नकारते हुए स्वतंत्रता, समानता और न्याय जैसे विषयों पर आधुनिक युग में समाजवादी चिन्तन की प्रेराणार्थ न्यायपूर्ण समाज की स्थापना पर बल दिया गया जिसका ध्येय आधुनिक चेतना के अनुसार सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा देना है। वर्तमान समय मे मानवीय अधिकारों की प्रगति के चलते न्याय के लिए स्वतंत्रता और समानता को ही उचित माना जाता है।[4] मानव सभ्यता के प्रारंम्भ से ही सामाजिक न्याय और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बीच प्राथमिकता को लेकर विवाद रहा है। आधुनिक काल में कांट, जॉन रॉल्स, अमर्त्य सेन और अम्बेडकर जैसे विचारकों ने सामाजिक न्याय को एक प्रमुख अवधारणा बनाने का कार्य किया। वर्तमान समय में लोक–कल्याणकारी राज्य का मूल लक्ष्य भी प्रत्येक नागरिक के लिए ऐसे न्यायपूर्ण समाज की स्थापना करना है जिसमें सामाजिक–आर्थिक विषमताएँ न्यूनतम हों, समाज समावेशी हो और संसाधनों का वितरण सर्वसामान्य स्वीकृति के आधार पर हो। सामाजिक न्याय से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तीनों तरह के न्याय का बोध हो जाता है। सामाजिक न्याय का विचार, निर्बल और निर्धन वर्गो को विशेष सहायता और संरक्षण प्रदान करने की मांग करते हुए बन्धुत्व के आदर्श को साकार करना चाहता है। सभी मनुष्य जन्म से या प्रकृति से स्वतंत्र और समान है; उनमें किसी भी तरह का भेदभाव नही हैं। सामाजिक न्याय की कामना से ही अधिकारों की पुनर्व्यवस्था की मांग का जन्म हुआ। न्याय तभी अर्थपूर्ण माना जाएगा जब समाज में प्रत्येक के अधिकारों को सुरिक्षत रखा जाए।[5] सामाजिक न्याय मुख्यतः समाज के वंचित वर्गों की दशा सुधारने की मांग करता है ताकि उन्हें सम्मानपूर्ण जीवन जीने का अवसर मिल सके और समाज की सब मूल्यवान् वस्तुओं की वितरण व्यवस्था पर पुनर्विचार किया जा सके। आज के युग में न्याय की मुख्य समस्या यह है कि सामाजिक जीवन के अंतर्गत विभिन्न व्यक्तियों या समूहों के प्रति वस्तु, सेवा, अवसर, लाभ, शक्ति और सम्मान के साथ–साथ दायित्व और कर्त्तव्य के आवंटन का उचित आधार क्या होना चाहिए। सामाजिक जीवन से जो भी लाभ प्राप्त होते हैं, वे कुछ लोगों के हाथों में सिमटकर न रह जाएं। आय और संपत्ति का संबंध श्रम और कर्तव्यपालन से होना चाहिए; विशेषाधिकार, परंपरा या उत्तराधिकार से नहीं। संपत्ति का अधिकार वहीं तक मान्य होना चाहिए जब संपत्ति श्रम की आय में से बचत करके संचित की गई हो, और वह संपत्ति व्यक्ति के सामान्य सुख तथा उसकी कार्यकुशलता को बढ़ाने के लिए आवश्यक हो। जब श्रम के साथ संपत्ति का सीधा संबंध स्थापित हो जायेगा, तब आर्थिक विषमताएं स्वतः कम हो जायेंगी या लुप्त हो जाएंगी क्योकि व्यक्ति में श्रम की क्षमता सामान्यतः सीमित होती है। जिसके फलस्वरूप शिक्षा और आत्मविश्वास के अवसर सबको समान रूप से सुलभ होंगे। न्यायपालिका में निष्पक्ष न्याय मिलेगा तथा जो भी उत्पादन होगा वह जनता को केंद्र में रखकर ही किया जाएगा।

जॉन रॉल्स के विचार

जॉन रॉल्स यू.एस.ए के हावर्ड विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे। रॉल्स का न्याय सिद्धान्त यू.एस.ए में 1960 के दशक में चले नागरिक अधिकार आन्दोलन व नृजातीय संघर्ष की प्रष्ठभूमि से उभरा। रॉल्स एक उदारवादी विचारक हैं, जिन्होंने उदारवादी व्यवस्था के अंतर्गत एक न्यायपूर्ण समाज स्थापित करने का प्रयास किया। वर्ष 1971 में उनकी रचना 'ए थियरी आफ जस्टिस' प्रकाशित हुई जिसमें सामाजिक न्याय की संकल्पना प्रस्तुत कर न्याय को पुनः राजनीतिक चिंतन के केंद्र में स्थापित करने का कार्य किया। रॉल्स न्याय को समाज का मुख्य व प्राथमिक सदगुण मानता है बिल्कुल वैसे ही सत्य चिन्तन का प्रथम सदगुण है।[6] एक बेहतर न्यायिक समाज की प्रकृति तथा उद्देश्य न्याय सिद्धांत का मौलिक अंग है। रॉल्स ने 'अज्ञान के पर्दे' की अवधारणा दी जहां व्यक्ति को अपनी प्रतिभा व क्षमता का ज्ञान नहीं था और भविष्य के समाज में उसकी स्थिति क्या होगी, उसके विषय में भी उसे ज्ञान नहीं था। इस स्थिति में जब व्यक्तियों ने परस्पर

---

[3] सुनिल महावर, भारत में दलित मानवाधिकार एवं सामाजिक न्याय, राज्य शास्त्र समीक्षा, अंक 33, जनवरी दिसम्बर 2003, पृ 172

[4] ओमप्रकाश गाबा, सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ 139

[5] कान्ता कतारिया, रिलेवेन्स ऑफ आम्बेडकर्स आइडियोलॉजी, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली,पृ 204

[6] जॉन राल्स, ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, हार्वर्ड विश्वविद्यालय, 1999, पृ 6–7

समझौता करके न्यायपूर्ण समाज के निर्माण का प्रयत्न किया तो उन्होंने स्वयं की स्थिति को सबसे वंचित रूप में रखा। रॉल्स के न्याय सिद्धांत को अधिकतम–न्यूनतम सिद्धांत भी कहते हैं जिसका अभिप्राय समाज में न्यूनतम स्थिति में रहने वाले लोगों के लिए अधिकतम लाभ है। उन्होंने व्यक्ति की गरिमा को अत्याधिक महत्वपूर्ण मानते हुए, स्वतंत्रता का अधिकार प्राथमिकता प्रदान की जो सभी को समान रूप से प्राप्त होगा। स्वतंत्रता को केवल स्वतंत्रता के लिए ही सीमित किया सकता है। दूसरी प्राथमिकता अवसर की समानता तथा तृतीय प्राथमिकता न्यूनतम स्थिति में रहने वाले व्यक्तियों का कल्याण है। उनका विचार था कि न्याय मूल स्थिति में अपनाये गए उन प्राथमिक सिद्धांतों का प्रतिफल है जो समाज के सभी वर्ग के लोगों के द्वारा समानता तथा उनके बौद्धिक विचारों के आधार पर स्वीकार किया गया है।[7] उनका मानना था कि प्रत्येक प्रकार की सामाजिक–आर्थिक विषमता समाप्त नहीं की जा सकती। अतः यह स्वीकार योग्य है, यदि वह समाज के न्यूनतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम लाभकारी हो। रॉल्स के न्याय का आधार कल्याणकारी राज्य के अंतर्गत किया गया है तथा न्याय को व्यावहारिक आधार प्रदान करने के लिए लोकतांत्रिक राज्यों की पृष्ठभूमि को आवश्यक माना। व्यक्तियों को पूर्ण रोजगार दिलाने का प्रयत्न किया जायेगा तथा सभी व्यक्ति रोजगार के चयन में स्वतंत्र होंगे। सभी के लिए न्यूनतम आय की गारंटी होगी, जिससे दीर्घकालिक रूप से न्यूनतम स्थिति में रहने वाले लोगों की आय में वृद्धि होगी। अतः सभी के लिए न्यूनतम आय का प्रबन्ध करना चाहिए, जिससे न्यूनतम स्थिति में रहने वाले लोगों के अधिकतम लाभ हो। प्राथमिक वस्तुओं जैसे–बुद्धि, स्वास्थ्य, अधिकार, स्वतंत्रता, संपत्ति एवं गरिमा का सम्मान, का आवंटन केवल बुरी परिस्थितियों में लागू होता है तथा उसके पश्चात् व्यक्ति को स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा के लिए छोड़ दिया जायेगा। अर्थात ऐसी विषमताएं स्वीकार की जा सकती है, जिनसक वंचित लोगों का कल्याण हो।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचार

भारत रत्न बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर हमारे महानतम कानूनविदों और शिक्षाविदों में से एक थें। उनका भारत के संविधान की रचना में और आधुनिक भारत के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा है, जिसे देश कृतज्ञता से याद करता है। प्रारूप समीति के अध्यक्ष के रूप में अम्बेडकर ने हमारे संविधान की आधारशिला के रूप में राजनीतिक लोकतंत्र के साथ–साथ सामाजिक एवं आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के संबंध में भी कार्य किया। डॉ. अम्बेडकर के लिए संविधान सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन का साधन था जिन्हें संसद प्रगतिशील कानूनों के माध्यम से सक्रियतापूर्वक लागू करेगी। अम्बेडकर एक शिक्षक, कानूनविद्, संविधान विशेषज्ञ, समाज सुधारक, वंचित वर्गों के अधिकारों की लड़ाई लड़ने वाले और उच्च कोटि के नेता थे। वह हमें आज की सभी समस्याओं के समाधान का मार्ग दिखाते हैं। समाज में विषमता है। समाज में सभी के पास आर्थिक संसांधनों में भी विषमता देखने को मिलती है। समाज में समता लाने के लिए निजी सम्पत्ति के अधिकार का पूर्णतः उन्मूलन होना चाहिए।[8] अम्बेडकर ने भारतीय राजनीति में गहन उदार मूल्यों को प्रोत्साहित किया और समाज में सामाजिक चेतना जाग्रत करने का कार्य किया। उन्होंने राज्य का उदारवादी रूप स्वीकार करते हुए, कल्याणकारी राज्य स्थापना पर जोर दिया। अम्बेडकर ने ऐसी शासन प्रणाली का समर्थन किया, जो शक्तियों के विभाजन पर आधारित हो तथा जिसमें कार्यपालिका, व्यवस्थपिका और न्यायपालिका की शक्तियां एक जगह केंद्रित न हो। उनके अनुसार राजनीतिक लोकतंत्र की सफलता के लिए सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र एक पूर्व शर्त है। उन्होनें भारतीय समाज में व्यापत बुराइयों की पहचान की तथा उनके उपचार भी बताए जो आज भी उतने ही प्रासंगिक है। वे अपने समय से आगे थे और सदियों के पूर्वाग्रह और सामाजिक दमन के बोझ से दबे लोगों के न्याय और समानता के अपने उद्देश्य के प्रति, समर्पित थे। अम्बेडकर भारतीयों को स्वयं पर विश्वास कर उनके उद्धार के लिए किसी एक व्यक्ति के ऊपर आश्रित नही रहने के लिए प्रेरित करते थे।[9] अम्बेडकर ने अंग्रेजों द्वारा आयोजित तीनों गोलमेज सम्मेलन में अनुसूचित जाति के प्रतिनिधित्व के रूप में भाग लिया। अम्बेडकर ने जातिव्यवस्था का विरोध किया तथा सदियों से चली आ रही पुरातन रूढ़िवादी व्यवस्था पर आक्रमण किया। उन्होंने सामाजिक भेदभाव पर आधारित रूढ़िवादी नियमों को पूर्णतया अवैज्ञानिक, अव्यावहारिक, अन्यायपूर्ण व गरिमाहीन बताया और उनकी

---

[7] नरेश दधीच, जॉन राल्स का न्याय का सिद्धांत, आविष्कार पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2003, पृ 4

[8] डॉ. अमरनाथ पासवान (संपादित),हाशिये का समाज एवं डॉ. आम्बेडकर, टाइम्स पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2015, पृ. 22

[9] हितेश शंकर (संपादन), ''बाबा साहेब'', पाञ्चजन्य', भारत प्रकाशन (दिल्ली) लिमिटेड, अप्रैल 2015, पृ. 11

तुलना प्लेटोवादी सामाजिक संरचना से करते हुए बताया कि इनमें वही बुराईयां है, जो प्लेटो की सामाजिक संरचना में विद्यमान थे। प्लेटो का न्याय सिद्धांत कार्य विशेषीकरण पर आधारित था। उसका विचार था कि एक आदर्श राज्य की स्थापना इसी सिद्धांत के आधार पर की जा सकती है कि एक व्यक्ति को निरन्तर एक ही कार्य करना चाहिए जिसके लिए वह उपयुक्त हो और उसी में उसे दक्षता प्राप्त करनी चाहिए। सामाजिक भेदभाव को कम करने के लिए आवश्यक है कि वंचित, शौषित वर्ग को भी भूमि का स्वामी बनाया जाए ताकि इनकी आर्थिक निर्भरता कम हो।[10] जाति व्यवस्था एवं अस्पृश्यता जिनकी जड़े जातिवाद में है, का विरोध करते हुए अम्बेडकर का मानना था कि भारतीय समाज में इसकी अनेक विकृतियों और अन्यायों के लिए जाति व्यवस्था उत्तरदायी हैं। इसमें सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए कोई स्थान नही है। अम्बेडकर ने प्रचलित महार वतन प्रणाली जिसमे अनुसूचित जाति के किसी व्यक्ति को सरकारी कार्यालय में नौकरी करते हुए यदि वह अनुपस्थित है, तो उसके परिवार के किसी सदस्य को अनिवार्य रूप से उसके स्थान पर कार्य करना पड़ता था तथा खोत प्रणाली जिसमे खोट जमींदार किसानों से राजस्व वसूली का कार्य करते थे, दोनो का विरोध किया। उन्होंने भारतीय समाज के परंपरागत् विधान में क्रांतिकारी परिवर्तन करके, उसे समता और भ्रातृत्व के आदर्शों के आधार पर संगठित करने का प्रयास करते हुए उन्हे जागरूक एवं शिक्षित करने की आवश्यकता पर बल दिया तथा साथ ही दलित विद्यार्थियों को शिक्षा तथा सेवा में आरक्षण प्रदान करने का संवैधानिक प्रयास किया। उनके अनुसार समाज में महिलाओं की स्थिति सामाजिक रूप से अत्याधिक पिछड़ी है जिसमें अनुसूचित जाति एवं जनजाति की महिलाओं की स्थिति ज्यादा चिंताजनक हैं। कानून मंत्री रहते हुए, उन्होनें महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए हिंदू कोड बिल 1951 को सदन में प्रस्तुत किया परंतु दुर्भाग्यवश् यह पारित नहीं हो पाया। भारतीय संविधान के निर्माण में बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर का योगदान स्वर्ण अक्षरों में लिखित है। सामाजिक न्याय के सन्दर्भ में भारतीय संविधान तत्वों और मूल भावना की दृष्टि से अद्वितीय है जिसका उददे्श्य न्याय, स्वतंत्रता, समता व बंधुत्व है। अम्बेडकर का जीवन दर्शन तीन शब्दों में मुख्य रूप से प्रकट होता है— स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्ता।[11] भारतीय संविधान की प्रस्तावना में न्याय तीन रूपों में शामिल है— सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जिनकी सुरक्षा मौलिक अधिकार व नीति निदेशक सिद्धांतों के विभिन्न उपबन्धों के जरिए की जाती है। संविधान में उल्लेखित न्याय के परिणामस्वरूप ही भारतीय समाज में आज धार्मिक, भाषायी, क्षेत्रीय अथवा वर्ग विविधताओं में न्यूनता देखने को मिली है तथा सौहार्द और आपसी भाईचारे की भावना को प्रोत्साहन मिला है। आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विषयों में नीति निदेशक तत्व महत्वपूर्ण है जिनका उददे्श्य न्याय में उच्च आदर्श, स्वतंत्रता, समानता बनाए रखना हैं। इनका उददे्श्य सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना कर, एक लोक कल्याणकारी राज्य का निर्माण करना हैं। यद्यपि भारत में राजनीतिक प्रजातंत्र की स्थापना की संविधान के माध्यम से हो जाएगी फिर भी हमे आदर्श आर्थिक प्रजातंत्र की स्थापना का संकल्प नहीं छोड़ना चाहिए।[12] अम्बेडकर ने 25 नवंबर, 1949 को संविधान सभा में दिए गए अपने समापन भाषण में विशेष बल देते हुए कहा, ''राजनीतिक लोकतंत्र तब तक स्थाई नही बन सकता जब तक कि उसके मूल में सामाजिक लोकतंत्र नहीं हो''। सामाजिक लोकतंत्र वह जीवन शैली है जो स्वाधीनता, समानता तथा भ्रातृत्व को मान्यता देती हो।

अम्बेडकर और रॉल्स के विचारों में तुलना

रॉल्स ने पितृसत्ता को स्वाभाविक माना। नारीवादी विचारक ओकिन के अनुसार रॉल्स ने परिवार को नागरिकता की पाठशाला व नागरिकों को सामाजिक बनाने का मूल स्थान माना। लेकिन इन्होंने परिवार में लैंगिक न्याय को अनदेखा कर दिया व परिवार को न्यायपूर्ण मान लिया तथा न्याय की मान्यता को सार्वभौमिक और निष्पक्ष भी कहा गया। अर्थात रॉल्स ने विभेद के स्थान पर सार्वभौमिकता व समानता पर बल दिया। वहीं दूसरी तरफ अम्बेडकर किसी भी समुदाय या देश की प्रगति को महिलाओं की प्रगति से नापते थे और उनका मानना था कि शिक्षा महिलाओं के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी पुरूषों के लिए आवश्यक

---

[10] आर. सिंह, आधुनिक परिदृश्य में अम्बेडकर, सम्यक प्रकाशन, 2021, पृ 155

[11] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, 'सम्पूर्ण वाङ्मय खंड (37), डॉ. भीमराव अम्बेडकर और उनकी समतावादी क्रान्ति : भाषण', डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2020, पृ. 476

[12] बी.आर. अम्बेडकर (2005) राज्य एवं अल्पसंख्यक, सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली पृ 25

है। भीमराव अम्बेडकर ने महिला अधिकारों के विकास हेतु अन्य समाज सुधारकों से ज्यादा कार्य किया। उनकी समझ और तार्किकता उच्च कोटि की थी।[13] स्त्री समानता व महिला सशक्तीकरण के समर्थक अम्बेडकर ने नारी अधिकारों– यथा तलाक, सम्पत्ति, उत्तराधिकार आदि के लिए ही 1951 में 'हिन्दू कोड बिल' प्रस्तावित किया था जिसका पुरुष सत्तावादी व रूढ़िवादी कटट्रपंथियों ने भारी विरोध किया। इस बिल के पारित न होने से हाहत अम्बेडकर ने कानून मंत्री पद से त्यागपत्र देते हुए कहां कि विभिन्न वर्गों और स्त्री पुरूषों के बीच असमानता की समस्या को अनछुआ छोड़कर, आर्थिक समस्याओं से सम्बंधित विधेयकों को पारित करने से हमारा संविधान एक मजाक बनकर रह जायेगा और यह गोबर के ढेर पर महल बनाने जैसी बात होगी। सभी मानव ईश्वर की दृष्टि में समान है।[14] रॉल्स वितरण की समस्या को मुख्य आधार मानते हुए शुद्ध विधि एवं प्रक्रिया पर बल देता हैं तथा परिणाम पर चर्चा नहीं करता है। वहीं अम्बेडकर जाति व्यवस्था से उत्पन्न असमानता और भेदभाव आदि को समाप्त कर एक समतामूलक एवं भय–मुक्त समाज के निर्माण पर बल देते हैं। उनका मानना था कि भारतीय समाज व जाति वयवस्था एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते है। रॉल्स जहां वितरण जिम्मेदारी केवल सम्पन्न वर्ग व राज्य पर छोड़ देते है वहीं अम्बेडकर का मानना था कि छुआछुत, जाति प्रथा से मुक्त होने की प्राथमिक जिम्मेदारी स्वयं अछूतों की है जिसके लिए उन्हें शिक्षित व संगठित होना होगा तथा अपना नेतृत्व स्वयं करना होगा। रॉल्स ने अपने 'अज्ञान के पर्दे' की कल्पना में कहां कि व्यक्ति को अपनी प्रतिभा व क्षमता का ज्ञान नही है, वहीं अम्बेडकर का मानना था कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मूल स्थिति का ज्ञान है लेकिन उनमें साहस की कमी हैं। वंचित वर्ग से प्रगतिशील सोच धारण करने के लिए प्रेरित किया क्योकि उनका मानना था कि 'सोचना' हमारा जैविक स्वभाव है जो हमारे सामाजिक स्वभाव से प्रभावित होता है।[15] साहस किसी भी व्यक्ति को आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करता है और यदि किसी व्यक्ति को कितनी भी धन संपदा वितरित कर दी जायें बेकार ही साबित होगी यदि उनमें उनका उपभोग करने का साहस नही है। रॉल्स अपने न्याय सिद्धांत में स्वतंत्रता को प्राथमिकता प्रदान करते है और समानता को दूसरे स्थान पर रखते हैं। रॉल्स ने अपने न्याय सिद्धांत में अधिकारों को शुभ से पहले मानते है।[16] वहीं अम्बेडकर का मानना था कि स्वतंत्रता, समानता व बंधुत्व को अलग नहीं किया जा सकता। अम्बेडकर का जीवन दर्शन तीन शब्दों में मुख्य रूप से प्रकट होता है– स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्ता।[17] समानता के बिना स्वतंत्रता, कई लोगों पर कुछ लोगों की सर्वोच्चता को जन्म देती है। स्वतंत्रता के बिना समानता व्यक्ति की पहल को समाप्त कर देगी। साथ ही आपसी बंधुत्व के बिना स्वतंत्रता व समानता प्राकृतिक नही बन पाएगी और तब उन्हें लागू करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होगी। रॉल्स का न्याय सिद्धांत अधिकतम–न्यूनतम सिद्धांत पर आधारित है जिसका अभिप्राय है, समाज में न्यूनतम स्थिति में रहने वाले लोगों के लिए अधिकतम लाभ। यह समग्र रूप से सामाजिक व्यावस्था का बुनियादी ढांचा है।[18] वहीं अम्बेडकर प्रत्येक नागरिक को जीवन स्वतंत्रता, वाक् अभिव्यक्ति और निष्ठा स्वतंत्रता की प्रदान करने का पक्ष रखते है। उनके जीवन का ध्येय प्रत्येक नागरिक को भय एवं जरूरत की चिंता से मुक्त करना। रॉल्स के अनुसार प्रत्येक प्रकार की सामाजिक–आर्थिक विषमता समाप्त नहीं की जा सकती। सामाजिक आर्थिक विषमता स्वीकार योग्य है यदि वह समाज के न्यूनतम स्थिति में रहने वाले व्यक्तियों के अधिकतम लाभकारी है। वहीं अम्बेडकर किसी भी प्रकार की सामाजिक–आर्थिक एवं असमानता को समाप्त करना चाहते थे। वंचित समाज प्रगति करना चाहता है तो वह जिस स्थिति में है, उसे उस स्थिति से बाहर आना होगा तथा दूसरे

---

[13] बसंत मून, डॉ बाबा साहेब अम्बेडकर, 2017, पृ 193

[14] डॉ. आम्बेडकर, एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, ए रिप्लाई टू महात्मा, पृ. 112–113

[15] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, 'सम्पूर्ण वाङ्मय खंड (13), शूद्र कौन थे', डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2020, पृ. 8

[16] जॉन राल्स, ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, हार्वर्ड विश्वविद्यालय, 1999, पृ 31

[17] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, 'सम्पूर्ण वाङ्मय खंड (37), डॉ. भीमराव अम्बेडकर और उनकी समतावादी क्रान्ति : भाषण', डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2020, पृ. 476

[18] जॉन राल्स, ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, हार्वर्ड विश्वविद्यालय, 1999, पृ 50–51

समाज के लोग जिस तरह ज्ञान, अधिकार, संपदा प्राप्त करने के लिए प्रयासरत रहते हैं।[19] वे एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते है जिसमें किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो।

उपसंहार

आधुनिक युग में न्याय की मांग सामान्यतः सामाजिक परिवर्तन की मांग के साथ जुड़ी है। जब हम यह देखते है कि समाज में कुछ लोग निर्दोष होते हुए भी अपमानित और अमानवीय जीवन जीने के लिए विवश हैं। वर्तमान व्यवस्था में जिन लोगों के निहित स्वार्थ जुड़े हैं, वे प्रचलित विषमताओं को उचित ठहराने के लिए अनेक तर्क देते है कि समाज में यदि सभी को स्वतंत्रता, अधिकार प्राप्त हो गए तो इससे समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। कुछ लोग योग्यता को आधार बनाकर, वर्तमान अन्याय और विषमताओं पर पर्दा डालने की कोशिश करते है। इस तरह के दृष्टिकोण रखने वाले समाज के अभिजन वर्ग के सदस्यों को समस्त सुख सुविधाएं, संपत्ति और सम्मान प्राप्त करने का असीम अधिकार है। अयोग्य व्यक्तियों को, दुःख, दरिद्रता और दुर्दशा को एक स्वाभाविक स्थिति मानकर स्वीकार कर लेना चाहिए। उपरोक्त सभी बातें केवल स्वार्थ से ही प्रेरित दिखायी देती है उनमें जो तर्क दिया गया वह 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाए' और सामान्य हित की धारणा के बिल्कुल विपरित हैं। महिलाओं का समग्र रूप से सशक्तीकरण सुनिश्चित करने के लिए उनके जीवन को प्रभावित करने वाले सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक कारकों का प्रभावी समेकन अत्यावश्यक है। असुरक्षित समुदायों के अंतर्गत अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्गों की महिलाओं को दोहरे भेदभाव का सामना करना पड़ता है। हिंसा एवं यौन दुर्व्यवहार एवं बलात्कार की पीड़ित महिलाओं को परिवार समाज दोनों से चुनौतियां मिलती है। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था की सबसे मजबूत नींव उस देश के श्रमिक होते है। सरकार द्वारा श्रमिकों की सुरक्षा हेतु समय –समय पर विभिन्न प्रावधान किये गए है, परंतु शिक्षा एवं जानकारी के अभाव के कारण श्रमिकों को विभिन्न समस्याओं का अनवरत् रूप से सामना करना पड़ता है। उत्तर प्रदेश, बिहार जैसे राज्यों में यह स्थिति ओर भी अधिक चिंताजनक दिखती है। रॉल्स ने न्याय की अवधारणा में स्वतंत्रता, अवसर की समानता व न्याय की प्राप्ति के लिए लोकतांत्रिक संवैधानिक मार्ग को ज्यादा सहज व सुलभ माना। उन्होंने न्याय व कल्याणकारी राज्य का अंतर्संबंध प्रभावी रूप में स्थापित किया, जो कि 20वीं सदी का सबसे मौलिक योगदान है। उनका यह सिद्धांत समाज में न्यूनतम स्थिति में रहने वाले लोगों के कल्याण के लिए आज भी प्रासंगिक है। वहीं अम्बेडकर ने आर्थिक व राजनीतिक सुधार के साथ सामाजिक सुधार को भी अपने न्याय दृष्टिकोण को स्थापित करने का कार्य किया। रॉल्स का न्याय संबंधी विचार पश्चिमीं जगत में ज्यादा कारगर साबित होता है वहीं अम्बेडकर का विचार भारतीय सामाजिक परिस्थिति के साथ यह विश्व के उन क्षेत्रों में भी प्रासंगिक है जहां आज भी धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान को लेकर विभेद है तथा इन सभी बुराईयों को आधार बनाकर समाज के एक बड़े वर्ग का सामाजिक आर्थिक रूप से शोषण किया जाता है। रॉल्स और अम्बेडकर दोनों ने अपने–अपने समय काल, एवं परिस्थितियों के अनुरूप सामाजिक न्याय पर विचार दिए। दोनो विचारकों में कुछ समानता और कुछ असमानता होने के बावजूद इनका अन्तिम ध्येय एक न्यायपूर्ण समाज का निर्माण करना है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अर्नेस्ट बार्कर, ग्रीक पॉलिटिकल थ्योरी, लन्डन, 1952, पृ 153
2. ओमप्रकाश गाबा, सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ 139
3. सुनिल महावर, भारत में दलित मानवाधिकार एवं सामाजिक न्याय, राज्य शास्त्र समीक्षा, अंक 33, जनवरी दिसम्बर 2003, पृ 172
4. ओमप्रकाश गाबा, सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ 139
5. कान्ता कतारिया, रिलेवेन्स ऑफ आम्बेडकर्स आइडियोलॉजी, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली,पृ 204
6. जॉन राल्स, ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, हार्वर्ड विश्वविद्यालय, 1999, पृ 6–7
7. नरेश दधीच, जॉन राल्स का न्याय का सिद्धांत, आविष्कार पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2003, पृ 4

[19] बौद्धाचार्य शान्ति स्वरूप बौद्ध (सम्पादक), बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर के ऐतिहासिक व्याख्यान, भाग–1, अनुवादक– विनय कुमार वासनिक, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ. 133

8. डॉ. अमरनाथ पासवान (संपादित), हाशिये का समाज एवं डॉ. आम्बेडकर, टाइम्स पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2015, पृ. 22
9. हितेश शंकर (संपादन),''बाबा साहेब'',पाञ्चजन्य', भारत प्रकाशन (दिल्ली) लिमिटेड, अप्रैल 2015,पृ. 11
10. आर. सिंह, आधुनिक परिदृश्य में अम्बेडकर, सम्यक प्रकाशन, 2021, पृ 155
11. बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, 'सम्पूर्ण वाङ्मय खंड (37), डॉ. भीमराव अम्बेडकर और उनकी समतावादी क्रान्ति : भाषण', डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2020, पृ. 476
12. बी.आर. अम्बेडकर (2005) राज्य एवं अल्पसंख्यक, सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली पृ 25
13. बसंत मून, डॉ बाबा साहेब अम्बेडकर, 2017, पृ 193
14. डॉ. आम्बेडकर, एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, ए रिप्लाई टू महात्मा, पृ. 112–113
15. बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, 'सम्पूर्ण वाङ्मय खंड (13), शूद्र कौन थे', डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2020, पृ. 8
16. जॉन राल्स, ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, हार्वर्ड विश्वविद्यालय, 1999, पृ 31
17. बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, 'सम्पूर्ण वाङ्मय खंड (37), डॉ. भीमराव अम्बेडकर और उनकी समतावादी क्रान्ति : भाषण', डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2020, पृ. 476
18. जॉन राल्स, ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, हार्वर्ड विश्वविद्यालय, 1999, पृ 50–51
19. बौद्धाचार्य शान्ति स्वरूप बौद्ध (सम्पादक), बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर के ऐतिहासिक व्याख्यान, भाग–1, अनुवादक– विनय कुमार वासनिक, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ. 133

शहरी झुग्गी बस्तियों में महिलाओं का सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण : वाराणसी शहर के विशेष सन्दर्भ में

विशाल कुमार सिंह*

सारांश

महिला सशक्तिकरण किसी भी समाज के विकास और सामाजिक न्याय की दिशा में एक महत्वपूर्ण कारक है। भारत में शहरी झुग्गी बस्तियों में रहने वाली महिलाएँ सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से अक्सर पिछड़े हुए वर्ग से आती हैं। इन महिलाओं को निर्णय लेने, रोजगार, शिक्षा और सामाजिक सहभागिता में कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

इस शोध का उद्देश्य वाराणसी शहर की झुग्गी बस्तियों में महिलाओं के सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण का मूल्यांकन करना और यह समझना है कि सामाजिक कार्यकर्ता और सामुदायिक कार्यक्रम इन महिलाओं के सशक्तिकरण में किस हद तक प्रभावी हैं।

अध्ययन में प्रश्नावली और साक्षात्कार विधि का उपयोग किया गया, जिसमें झुग्गी बस्तियों की 120 महिलाओं और 10 सामाजिक कार्यकर्ताओं को शामिल किया गया। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक कार्यकर्ताओं की पहल महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने, निर्णय लेने में सक्षम बनाने और सामाजिक सहभागिता बढ़ाने में प्रभावी रही है। हालांकि, शिक्षा, वित्तीय साक्षरता और मानसिक स्वास्थ्य जैसे क्षेत्र अभी भी चुनौतीपूर्ण बने हुए हैं।

शब्द–कुंजी – महिला सशक्तिकरण, सामाजिक कार्यकर्ता, शहरी झुग्गी बस्ती, आर्थिक सशक्तिकरण, वाराणसी

प्रस्तावना

महिला सशक्तिकरण आज के सामाजिक विकास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू है। यह न केवल महिलाओं को उनके अधिकारों और स्वतंत्रता के प्रति जागरूक करता है, बल्कि उन्हें निर्णय लेने, समाज में सक्रिय भागीदारी करने और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनने के लिए सक्षम भी बनाता है। महिला सशक्तिकरण का प्रभाव केवल व्यक्तिगत जीवन तक सीमित नहीं रहता, बल्कि समाज और राष्ट्र के समग्र विकास में भी इसके गहरे परिणाम दिखाई देते हैं।

भारत के शहरी क्षेत्र, विशेषकर झुग्गी बस्तियाँ, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग की प्रतिनिधि हैं। इन क्षेत्रों में रहने वाली महिलाएँ अक्सर शिक्षा, रोजगार, निर्णय लेने की क्षमता, सामाजिक भागीदारी और आर्थिक संसाधनों के मामले में पिछड़ी हुई हैं। इन महिलाओं के लिए जीवन में चुनौतियाँ अनेक हैं। गरीबी, संसाधनों की कमी, सामाजिक भेदभाव, पारिवारिक दबाव और शिक्षा की कमी। ऐसे परिवेश में महिला सशक्तिकरण का महत्व और भी बढ़ जाता है।

1. शहरी झुग्गी बस्तियों में महिलाओं की सामाजिक स्थिति

वाराणसी जैसे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नगरी में झुग्गी बस्तियाँ मुख्यतः पुराने शहर, गंगा नदी के किनारे और संकरी गलियों में फैली हुई हैं। इन बस्तियों में रहने वाली महिलाएँ सीमित संसाधनों और कम आय के कारण आर्थिक निर्णयों में भागीदारी, सामाजिक नेटवर्क और व्यक्तिगत स्वतंत्रता में कमी महसूस करती हैं।

अध्ययन बताते हैं कि इन क्षेत्रों में महिलाएँ मुख्यतः घरेलू कार्य, बच्चों की देखभाल और छोटे व्यवसायों में लगी रहती हैं। रोजगार के अवसर सीमित हैं और समाज में उनका निर्णय लेने का अधिकार बहुत कम होता है। इसके कारण आत्मविश्वास और सामाजिक सहभागिता का स्तर भी निम्न रहता है।

2. महिला सशक्तिकरण का अर्थ और महत्व

महिला सशक्तिकरण का अर्थ केवल महिलाओं को नौकरी या शिक्षा प्रदान करना नहीं है, बल्कि उन्हें समाज में समान अधिकार, आर्थिक स्वतंत्रता और निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करना है। Kabeer (2005) के

* सहायक प्राध्यापक, समाज कार्य, महादेव पी.जी. कॉलेज, बरियासनपुर, वाराणसी

अनुसार, महिला सशक्तिकरण का मतलब है महिलाओं को यह क्षमता देना कि वे अपने जीवन, संसाधनों और निर्णयों पर नियंत्रण प्राप्त कर सकें।

महिला सशक्तिकरण के प्रमुख आयाम हैं :

1. **सामाजिक सशक्तिकरणः** परिवार और समुदाय में निर्णय लेने की क्षमता, सामाजिक नेटवर्क और सहभागिता।
2. **आर्थिक सशक्तिकरणः** स्वरोजगार, वित्तीय स्वतंत्रता, और आय सृजन की संभावनाएँ।
3. **शैक्षिक सशक्तिकरणः** शिक्षा, कौशल विकास और जानकारी तक पहुँच।
4. **सांस्कृतिक और मानसिक सशक्तिकरणः** आत्मविश्वास, नेतृत्व क्षमता और सामाजिक मान्यताओं का सामना करने की क्षमता।

शहरी झुग्गी बस्तियों में महिलाओं का सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण केवल उनके व्यक्तिगत विकास तक सीमित नहीं रहता, बल्कि परिवार और समुदाय के विकास में भी योगदान करता है।

3. सामाजिक कार्यकर्ताओं की भूमिका

सामाजिक कार्यकर्ता महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए विभिन्न कार्यक्रम और प्रशिक्षण आयोजित करते हैं। उनका योगदान निम्नलिखित क्षेत्रों में दिखाई देता हैः

i. **स्वयं सहायता समूह (Self Help Groups) का निर्माणः** महिलाओं को सामूहिक रूप से वित्तीय और सामाजिक निर्णय लेने में सक्षम बनाना।

ii. **कौशल प्रशिक्षण और रोजगारः** महिलाओं को रोजगार योग्य कौशल सिखाना और स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराना।

iii. **सामाजिक सहभागिताः** महिलाओं को निर्णय लेने और समुदाय के कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए प्रेरित करना।

iv. **सामाजिक जागरूकता और नेतृत्वः** महिलाओं को अपने अधिकारों, सामाजिक नियमों और नेतृत्व कौशल के प्रति जागरूक करना।

समस्या का कथन

शहरी झुग्गी बस्तियों में रहने वाली महिलाएँ अक्सर सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ी हुई पाई जाती हैं। निर्णय लेने की क्षमता, वित्तीय स्वतंत्रता और समाज में सक्रिय भागीदारी में कमी उनके विकास में बाधक बनती है।

मुख्य समस्याएँ इस प्रकार हैं:

- आर्थिक रूप से निर्भर रहना और रोजगार की सीमित संभावनाएँ।
- शिक्षा और कौशल विकास की कमी।
- सामाजिक और पारिवारिक निर्णयों में भागीदारी का अभाव।
- मानसिक स्वास्थ्य और आत्मविश्वास में कमी।

इस संदर्भ में यह आवश्यक है कि सामाजिक कार्यकर्ता और सामुदायिक कार्यक्रम महिलाओं को सशक्त बनाने में किस हद तक प्रभावी हैं, इसका अध्ययन किया जाए।

अध्ययन का महत्व

- यह अध्ययन सामाजिक कार्यकर्ताओं की भूमिका और प्रभावशीलता को उजागर करता है।
- यह झुग्गी बस्तियों में महिलाओं के सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण के लिए नीतिगत सुझाव प्रदान कर सकता है।
- अध्ययन से NGOs और सरकार के लिए सशक्तिकरण कार्यक्रमों में सुधार की दिशा स्पष्ट होगी।
- यह शोध शहरी गरीब महिलाओं के जीवन स्तर में सुधार के लिए academic literature में योगदान देगा।

अध्ययन की सीमाएँ और चुनौतियाँ

- डेटा संग्रह के दौरान भाषा और संवाद की बाधाएँ।
- झुग्गी बस्तियों में महिलाओं की असमानता और विविधता।
- सीमित संसाधन और समय के कारण व्यापक आंकड़े जुटाना कठिन।

- सामाजिक कलंक और पारंपरिक मान्यताओं के कारण कुछ विषयों पर खुलकर चर्चा करना मुश्किल।

अध्ययन के उद्देश्य

1. झुग्गी बस्तियों में रहने वाली महिलाओं के सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण का मूल्यांकन करना।
2. सामाजिक कार्यकर्ताओं और कार्यक्रमों की प्रभावशीलता का अध्ययन करना।
3. महिलाओं में निर्णय लेने की क्षमता, आत्मनिर्भरता और सामाजिक सहभागिता का विश्लेषण करना।
4. नीति निर्माताओं और NGOs के लिए सुझाव प्रदान करना।

साहित्य समीक्षा महिला सशक्तिकरण एक वैश्विक सामाजिक विकास विषय है, जिसे सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से समझा जाता है। विभिन्न देशों और भारत में किए गए शोधों से यह स्पष्ट होता है कि झुग्गी बस्तियों जैसी शहरी गरीब आबादी में रहने वाली महिलाएँ अक्सर सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़ी होती हैं। उनके सशक्तिकरण के लिए सामाजिक कार्यकर्ताओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है।

1. महिला सशक्तिकरण का सिद्धांत और महत्व

Naila Kabeer (2005) ने महिला सशक्तिकरण को इस रूप में परिभाषित किया है कि यह महिलाओं की क्षमता और अवसरों में वृद्धि को सुनिश्चित करता है, जिससे वे अपने जीवन, संसाधनों और निर्णयों पर नियंत्रण प्राप्त कर सकें। उनका अध्ययन बताता है कि महिला सशक्तिकरण केवल आर्थिक या शैक्षिक दृष्टिकोण तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक क्षेत्रों में भी महिलाओं की भागीदारी को बढ़ावा देता है।

Kabeer के अनुसार महिला सशक्तिकरण के तीन मुख्य आयाम हैः

i. **साधन और संसाधन (Resources):** शिक्षा, वित्तीय साधन और सामाजिक नेटवर्क।
ii. **प्रक्रिया (Process):** निर्णय लेने और जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओं में भागीदारी।
iii. **परिणाम (Outcome):** व्यक्तिगत स्वतंत्रता, आत्मसम्मान और सामाजिक मान्यता।

इस सिद्धांत से स्पष्ट होता है कि महिलाओं को केवल नौकरी या शिक्षा प्रदान करना पर्याप्त नहीं है, बल्कि उन्हें निर्णय लेने और सामाजिक भागीदारी के अवसर भी उपलब्ध कराने आवश्यक हैं।

2. शहरी झुग्गी बस्तियों में महिलाओं की स्थिति

भारत में शहरी झुग्गी बस्तियाँ मुख्यतः गरीब और आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग के लिए आश्रय का माध्यम हैं। Sharma & Singh (2018) ने अपने अध्ययन में पाया कि इन बस्तियों में रहने वाली महिलाएँ आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़ी हुई हैं।

- अधिकांश महिलाएँ घरेलू कार्य, बच्चों की देखभाल और असंगठित क्षेत्रों में रोजगार करती हैं।
- सामाजिक निर्णयों में उनकी भागीदारी बहुत कम होती है।
- शिक्षा और कौशल विकास की कमी के कारण आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनने में बाधा आती है।

इस शोध से यह स्पष्ट होता है कि झुग्गी बस्तियों की महिलाएँ न केवल आर्थिक रूप से, बल्कि सामाजिक और मानसिक दृष्टि से भी कमजोर वर्ग से संबंधित हैं।

Agarwal & Mehta (2020) ने अपने qualitative study में यह पाया कि झुग्गी बस्तियों में रहने वाली महिलाएँ अक्सर सामाजिक कलंक और पारंपरिक मान्यताओं के कारण अपने अधिकारों और अवसरों का पूरी तरह उपयोग नहीं कर पाती।

3. सामाजिक कार्यकर्ताओं की भूमिका

सामाजिक कार्यकर्ता महिलाओं को सशक्त बनाने में मध्यम और लंबी अवधि के कार्यक्रम लागू करते हैं। Gupta (2019) और Patil et al. (2020) के अध्ययनों से पता चलता है कि सामाजिक कार्यकर्ताओं की गतिविधियाँ महिलाओं में आत्मनिर्भरता, निर्णय लेने की क्षमता और सामाजिक सहभागिता को बढ़ाने में प्रभावी हैं।

मुख्य गतिविधियाँः

1. स्वयं सहायता समूह का गठनः

- महिलाओं को सामूहिक निर्णय लेने और वित्तीय योजना बनाने में सक्षम बनाना।
- आर्थिक सुरक्षा और सामुदायिक सहयोग को बढ़ावा देना।

2. कौशल विकास और रोजगारः

- महिलाओं को vocational training, handicrafts और small business skills सिखाना।
- स्वरोजगार और आय सृजन की संभावनाएँ बढ़ाना।

3. सामाजिक जागरूकता और नेतृत्व प्रशिक्षणः

- महिलाओं को समाज में निर्णय लेने, नेतृत्व करने और सामाजिक कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए प्रेरित करना।

Patil et al. (2020) ने अपने अध्ययन में यह पाया कि सामाजिक कार्यकर्ताओं की उपस्थिति से महिलाओं के आत्मविश्वास और सामाजिक भागीदारी में वृद्धि हुई। महिलाओं ने निर्णय लेने, अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाने और सामुदायिक गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी शुरू की।

4. आर्थिक सशक्तिकरण

Rao & Kulkarni (2021) के अनुसार, महिलाओं का आर्थिक सशक्तिकरण मुख्यतः स्व–रोजगार, छोटे व्यापार, स्वयं सहायता समूह और वित्तीय साक्षरता के माध्यम से संभव होता है।

- अध्ययन में यह पाया गया कि महिलाएँ अपने परिवार और समुदाय में अधिक प्रभावशाली बनती हैं जब उन्हें आर्थिक संसाधनों और वित्तीय जानकारी की पहुँच होती है।
- स्वरोजगार और आय सृजन के अवसर उनके आत्मसम्मान और सामाजिक पहचान को बढ़ाते हैं।

Sharma & Singh (2018) के अनुसार, झुग्गी बस्तियों में रहने वाली महिलाओं के लिए आर्थिक सशक्तिकरण सामाजिक सशक्तिकरण के लिए आधार के रूप में कार्य करता है।

5. सामाजिक भागीदारी और निर्णय लेने की क्षमता

Sengupta (2019) ने शहरी गरीब महिलाओं के निर्णय लेने के अधिकारों पर अध्ययन किया। उनके निष्कर्ष बताते हैं कि महिलाओं की सामाजिक भागीदारी और नेतृत्व क्षमता को सामाजिक कार्यकर्ता और स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से बढ़ाया जा सकता है।

- महिलाओं ने सामाजिक कार्यक्रमों में भाग लेना और परिवार के आर्थिक निर्णयों में सहभागिता बढ़ाना शुरू किया।
- सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा नेतृत्व और अधिकारों की जानकारी प्रदान करने से महिलाओं में आत्मविश्वास और समुदाय में सम्मान बढ़ा।

कार्यप्रणाली

- **स्थानः** वाराणसी शहर की पाँच प्रमुख झुग्गी बस्तियाँ
- **सैंपलः** 120 महिलाएँ, 10 सामाजिक कार्यकर्ता
- **डेटा संग्रहः** प्रश्नावली और साक्षात्कार
- **डेटा प्रकारः** सामाजिक भागीदारी, आर्थिक गतिविधियाँ, शिक्षा, निर्णय क्षमता, स्वयं सहायता समूह की भागीदारी

आंकड़ों का विश्लेषण :

पहलू	महिलाओं की संख्या	प्रतिशत (%)
स्वयं सहायता समूह में भागीदारी	75	62.5
आर्थिक गतिविधियों में भागीदारी	80	66.7
निर्णय लेने में सक्रियता	65	54.2
शिक्षा और कौशल प्रशिक्षण	70	58.3

विश्लेषणः अधिकांश महिलाओं ने आर्थिक गतिविधियों और स्वयं सहायता समूहों में भागीदारी शुरू की है। निर्णय लेने और सामाजिक सहभागिता में भी सुधार दिख रहा है।

परिणाम

- सामाजिक कार्यकर्ताओं के प्रयास से महिलाओं में आत्मनिर्भरता और सामाजिक भागीदारी में सुधार हुआ।
- आर्थिक गतिविधियों में 66.7% महिलाओं ने सक्रिय भागीदारी दिखाई।
- शिक्षा और कौशल प्रशिक्षण ने महिलाओं के आत्मविश्वास में वृद्धि की।

- निर्णय लेने में सक्रिय महिलाओं की संख्या 54.2% थी, जो पहले की तुलना में बढ़ी है।

चर्चा

अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक कार्यकर्ता और कार्यक्रम महिलाओं के सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण में प्रभावी हैं।

- स्वयं सहायता समूह और vocational training के माध्यम से महिलाएँ आर्थिक रूप से सशक्त हो रही हैं।
- निर्णय लेने की क्षमता और सामाजिक सहभागिता में वृद्धि हुई है।
- हालांकि, मानसिक स्वास्थ्य और उच्च शिक्षा में सुधार की आवश्यकता बनी हुई है।

यह निष्कर्ष Gupta (2019), Patil et al. (2020) और Rao – Kulkarni (2021) के अध्ययन से मेल खाता है।

निष्कर्ष

वाराणसी की झुग्गी बस्तियों में महिलाओं का सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण संभव है, यदि उन्हें सामाजिक कार्यकर्ताओं के समर्थन, प्रशिक्षण और संसाधन प्रदान किए जाएँ।

- सामाजिक कार्यकर्ताओं की भूमिका निर्णय लेने, आर्थिक भागीदारी और स्वयं सहायता समूह में सहभागिता को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण है।
- महिलाओं के आत्मविश्वास, शिक्षा और कौशल में सुधार उनके सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण को सुनिश्चित करता है।
- नीति निर्माताओं और NGOs को इन कार्यक्रमों को और प्रभावी बनाने के लिए समर्थन बढ़ाना चाहिए।

संदर्भ सूची

1. Gupta, R. (2019). *Role of social workers in women empowerment in urban slums*. Journal of Community Development, 14(2), 45–60.
2. Kabeer, N. (2005). *Gender equality and women's empowerment: A critical analysis*. Social Science Review, 23(1), 13–40.
3. Patil, S., Sharma, A., & Verma, P. (2020). *Community programs for women empowerment in urban slums of India*. Indian Journal of Social Work, 81(1), 77–92.
4. Rao, S., & Kulkarni, M. (2021). *Economic empowerment of women through self-help groups in urban slums*. Journal of Urban Health, 98(4), 560–572.
5. Sharma, V., & Singh, K. (2018). *Status of women in urban slums: Challenges and interventions*. International Journal of Social Development, 63(3), 323–330.

बी०एड० अध्ययनरत् प्रशिक्षणार्थियों की खुशहाली का अध्ययन

डॉ. सुरेन्द्र यादव*

सारांश :

''सूचना–संचार और प्रौद्योगिकी, कम्प्यूटरीकरण एवं भूमण्डलीकरण के अभूतपूर्व विकास एवं विश्व स्तर पर मानव अन्तर्क्रिया के वर्तमान युग में व्यक्तियों में तनाव एवं दुःख का स्तर तेजी से बढ़ा है। वह भी तब जब विज्ञान अपने विकास का लोहा मनवा रहा है। आज विज्ञान ने मनुष्य को सुख के कृत्रिम संसाधन उपलब्ध करवाने में सफलता तो प्राप्त कर ली है किन्तु मानव मन को खुशहाली की प्राप्ति करवाने में विमुख नजर आ रहा है। दिल्ली की सरकार ने वर्ष 2018–19 में नर्सरी से कक्षा–8 तक के बच्चों के लिए पाठ्यचर्या में 'खुशहाली पाठ्यचर्या' की व्यवस्था की है। शिक्षा विभाग को विश्वास है कि इस पाठ्यचर्या से सामाजिक एवं पर्यावरणीय समस्याओं के समाधान निकलकर सामने आयेगें। सतत् विकास लक्ष्य (SDG-3) के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र ने 2030 एजेण्डा के लिए 17 विकास लक्ष्यों में से एक ''स्वस्थ्य जीवन सुनिश्चित करना और सभी उम्र के लिए खुशहाली को बढ़ावा देना'' सुनिश्चित किया है। आज खुशहाल जीवन के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 में भी विद्यार्थियों के लिए प्रभावी तरीके बताये गये हैं। ऐसे में भावी शिक्षकों एवं कार्यरत शिक्षकों को खुशहाल जीवन हेतु उत्तम शिक्षण एवं ज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता आवश्यकता प्रतीत होती है। इन्हीं तथ्यों के दृष्टिगत शोधार्थी ने 'बी0एड0 अध्ययनरत् प्रशिक्षणार्थियों की खुशहाली का अध्ययन किया है। शोध अध्ययन में शोधार्थी ने उरई तहसील (जनपद जालौन उ0प्र0) के समस्त महाविद्यालयों जो कि केवल बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी से सम्बद्ध है, के बी0एड0 अध्ययनरत् कुल 100 प्रशिक्षणार्थियों को प्रतिदर्श के रूप में चयन कर अध्ययन किया। वर्णनात्मक अनुसंधान विधि के अन्तर्गत प्राचलिक सांख्यिकी के क्रान्तिक अनुपात द्वारा निष्कर्ष की प्राप्ति की गयी जिसमें बी0एड0 अध्ययनरत् छात्र एवं छात्राओं में शारीरिक खुशहाली, मानसिक खुशहाली, भावनात्मक खुशहाली एवं सामाजिक खुशहाली आदि सभी विमाओं पर समानता पायी गयी एवं परिकल्पना स्वीकृत पायी गयी। वास्तव में देखा जाये तो तनाव रहित वातावरण में योग्य शिक्षक के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। शिक्षण प्रभावशीलता से ही समाज में शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं सामाजिक सभ्यता स्थापित हो पाती है।''

प्रस्तावना :

शिक्षाशास्त्री टी0पी0 नन के अनुसार ''शिक्षा व्यक्ति का ऐसा सम्पूर्ण विकास है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी पूर्ण क्षमता से मानव जीवन के लिये अपनी मौलिक भूमिका प्रदान करते हैं।''[1] शिक्षा मानसिक स्वास्थ्य और खुशहाली को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। खुशहाली की आवधारण की उत्पत्ति सकारात्मक मनोविज्ञान से हुई है। सकारात्मक मनोविज्ञान का कार्य व्यक्ति के जीवन में सुधार का अध्ययन करना है। अर्थात् खुशहाली का तात्पर्य संज्ञानात्मक और भावनात्मक प्रक्रिया के सामंजस्यपूर्ण परस्पर क्रिया से है। भारतीय शब्दावली के सन्दर्भ में यह इन्द्रिय, चित्त और आत्मा के सामंजस्य को दर्शाता है। यह मनुष्य में पाया जाने वाला प्रबल सकारात्मक भाव है। यह अवसाद, दुख अथवा निराशा का विरोधी मनोभाव है। खुशहाल व्यक्ति शारीरिक रूप से अधिक स्वस्थ्य और अधिक आत्म संयमी होते हैं। खुशहाली का सम्बन्ध व्यक्ति के पूरी शिक्षा और पूरे जीवन से है। विभिन्न विषयों के शोधकर्ताओं ने खुशहाली के विभिन्न पहलुओं की जांच की है जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित शामिल हैं–

1. स्वायत्तता, 2. शारीरिक खुशहाली, 3. मानसिक खुशहाली, 4. जीवन संतुष्टि, 5. भावनात्मक खुशहाली एवं 6. सामाजिक खुशहाली।

उपरोक्त बहुआयामी खुशहाली दृष्टिकोण सकारात्मकता और जीवन की गुणवत्ता में सुधार के लिए एवं स्वस्थ आदतों को बढ़ावा देने के लिए शाश्वत प्रेरणा के महत्व पर जोर देने पर केन्द्रित है। इन्हीं अच्छी

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर (एम0एड0 विभाग), दयानन्द वैदिक कॉलेज उरई (जालौन)
Email : ssydvcmed@gmail.com

आदतों के खुशहाली रूपी पूंजों को दृष्टिगत रखते हुए शोधकर्ता ने भावी शिक्षक एवं शिक्षिकाओं में खुशहाली के अन्तर को जानने का अध्ययन कर जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा की है।

शोध अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व :

अध्यापक को समाज के दर्पण की संज्ञा से जाना जाता है तथा अध्यापक में ही समाज का प्रतिबिम्व दिखाई देता है। ''यहूदी और रोमन परम्पराओं के विलयन के बाद जिस ईसाई धर्म का विकास हुआ उसने चरित्र प्रशिक्षण को शिक्षा का आवश्यक कार्य माना। कमेनियस कहता है– पाठ्यक्रम में वे सभी विषय हों जो व्यक्ति को बुद्धिमान, एवं सद्गुणी बना सकें।''[2]

अध्यापक का समाज में सर्वोपरि एवं महत्वपूर्ण स्थान होता है। ऐसे में यदि अध्यापक समाज के सभी पहलुओं या आयामों जैसे शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक एवं भावात्मक रूप से सामंजस्यपूर्ण नहीं होगा तो वह समाज को अपना सम्पूर्ण योगदान नहीं दे सकेगा। आज युवाओं में मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएं बढ़ रही हैं। द स्टेट आफ द बर्ल्डस चिल्ड्रेन (2021) रिपोर्ट में 21 देशों के लिए यूनिसेफ के सर्वेक्षण रिपोर्ट में भारत में 15 से 24 साल के बीच में युवाओं में अवसाद की भावना पायी गयी। चौहान, रामकिशन, भारती एवं प्रियंका दूबे (2021); शहरी एवं ग्रामीण के बीच विद्यार्थियों के कल्याण के अध्ययन विश्लेषण में जीवन संतुष्टि, दक्षता, मानसिक स्वास्थ्य और पारस्परिक सम्बन्धों पर कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया गया तथा ग्रामीण किशोर विद्यार्थियों में शहरी किशोर विद्यार्थियों की तुलना में उच्च सामाजिकता और मनोवैज्ञानिक खुशहाली पायी गयी। ''राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 समग्र विकास हेतु छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य और खुशहाली पर जोर देती है।''[3]

खुशहाली और सकारात्मक मनोभावों का प्रोत्साहन एक चक्रिय प्रक्रिया है। इसका लाभ केवल विद्यार्थियों तक ही सीमित नहीं है बल्कि इससे सम्पूर्ण सामाजिक संरचना के क्रियान्वयन में प्रोत्साहन मिलेगा। उपरोक्त आवश्यकता एवं महत्व को दृष्टिगत रखते हुए शोधकर्ता ने निम्नलिखित समस्या कथन का चयन किया।

शोध समस्या कथन :

''बी0एड0 अध्ययनत् प्रशिक्षणार्थियों की खुशहाली का अध्ययन''।

शोध समस्या कथन में प्रयुक्त चरों/पदों का परिभाषीकरण :

बी0एड0–

यह शिक्षा स्नातक कार्यक्रम है जिसे सामान्यतः बी0एड0 कार्यक्रम कहा जाता है। यह एक व्यावसायिक पाठ्यक्रम है जो उच्च प्राथमिक अथवा मिडिल स्कूल (कक्षा VI से VIII) एवं माध्यमिक स्तर (कक्षा IX एवं X) एवं उच्च माध्यमिक स्तर (कक्षा XI एवं XII) के लिए अध्यापक तैयार करता है।

खुशहाली–

यह किसी व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और सामाजिक खुशहाली स्वास्थ्य, कारकों का संयोजन है। इसका खुशी और जीवन संतुष्टि से गहरा सम्बन्ध है।

शोध अध्ययन के उद्देश्य :

प्रस्तुत शोध अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

1. बी0एड0 अध्ययनरत् छात्र एवं छात्राओं में खुशहाली का अध्ययन करना।

शोध अध्ययन की परिकल्पनायें :

1. बी0एड0 अध्ययनरत् छात्र एवं छात्राओं की खुशहाली में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

शोध अध्ययन का परिसीमांकन :

1. प्रस्तुत शोध अध्ययन केवल उरई तहसील (जनपद जालौन उ0प्र0) तक ही सीमित है।
2. प्रस्तुत शोध अध्ययन केवल बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी से सम्बद्ध महाविद्यालयों में अध्ययनरत् प्रशिक्षणार्थियों को ही शामिल किया गया है।
3. प्रस्तुत शोध में प्रतिदर्श के रूप में अध्ययन की समस्त जनसंख्या में से केवल 100 प्रशिक्षणार्थियों का ही चयन प्रतिदर्श के रूप में किया गया है।

शोध अध्ययन विधि :

प्रस्तुत शोध अध्ययन में वर्णनात्मक अनुसंधान की सर्वेक्षण शोध विधि का प्रयोग किया गया है।

'करलिंगर (1986) के शब्दों में ''सर्वे शोध में छोटे एवं बड़े जीवसंख्या का अध्ययन उसी जीवसंख्याओं से प्रतिदर्श का चयन करके किया जाता है ताकि समाजशास्त्रीय चरों तथा मनोवैज्ञानिक चरों के तुलनात्मक एवं अन्तरसम्बन्धों की खोज की जा सके।''[4]

शोध अध्ययन की जनसंख्या :

वाइनर (1971) के अनुसार ''सांख्यिकीय जनसंख्या का आशय उन सभी घटकों से है जिसके बारे में शोधकर्ता सूचनाएं प्राप्त करना चाहते हैं।''[5]

प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधकर्ता द्वारा जनपद जालौन के तहसील उरई में बी0एड0 संचालित समस्त महाविद्यालयों में बी0एड0 अध्ययनरत् समस्त प्रशिक्षणार्थियों को शोध अध्ययन की जनसंख्या के रूप में चयनित किया गया है।

शोध अध्ययन का प्रतिदर्श :

'प्रतिदर्श जनसंख्या का वह छोटा भाग होता है जिसे अनुसंधानकर्ता के द्वारा वास्तविक अध्ययन के लिए चयनित किया जाता है तथा इससे सूचनाओं का सामान्यीकरण करके जनसंख्या के बारे में अनुमान लगाया जाता है।''[6]

वर्न्स (2000) के **अनुसार** ''प्रतिदर्श किसी जनसंख्या का अंश (भाग) होता है, चाहे वह प्रतिनिध्यात्मक हो अथवा नहीं हो।'' प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधकर्ता ने प्रदत्त संकलन हेतु समस्त जनसंख्या में से बी0एड0 अध्ययनरत् कुल 100 छात्र एवं छात्रा प्रशिक्षणार्थियों का चयन प्रतिदर्श के रूप में किया है।

शोध अध्ययन की प्रतिदर्श चयन विधि :

प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधकर्ता द्वारा स्तरीकृत यादृच्छिक न्यादर्श चयन विधि का प्रयोग किया गया है।

शोध अध्ययन का प्रतिदर्श आकार :

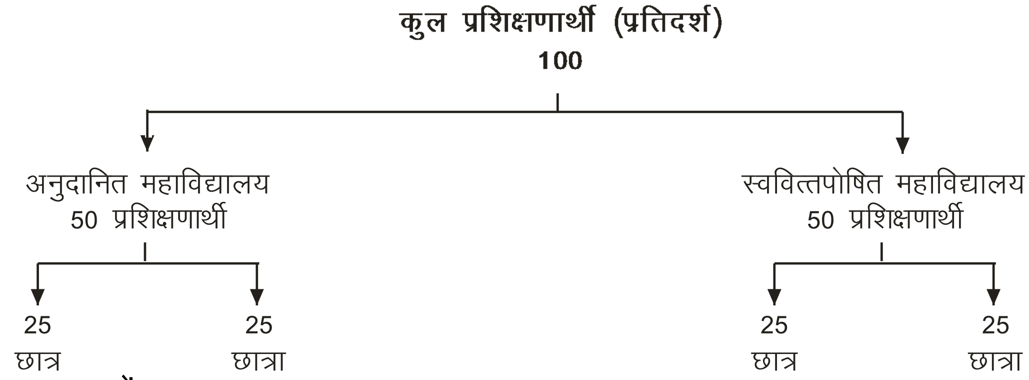

शोध अध्ययन में प्रयुक्त उपकरण :

प्रस्तुत शोध अध्ययन में प्रदत्तों के इकट्ठा करने हेतु शोध उपकरण के लिए **डॉ0 तारेश भाटिया** (पूर्व प्राचार्य एवं प्रभारी) मनोविज्ञान विभाग दयानन्द वैदिक कॉलेज, उरई तथा **हरेन्द्र सिंह प्रजापति** (शोधार्थी मनोविज्ञान विभाग) द्वारा निर्मित एवं मानकीकृत शोध उपकरण का प्रयोग किया गया है जिसकी वैधता 0.85 एवं विश्वसनीयता 0.89 है।

शोध अध्ययन में प्रयुक्त सांख्यिकीय विधियाँ :

प्रस्तुत शोध कार्य में सम्पूर्ण प्रदत्तों के एकत्रीकरण एवं उनके फलांकन कार्य के पश्चात् परिकल्पनाओं की जांच के लिए अनुमानात्मक सांख्यिकीय के मध्यमान, मानक विचलन एवं क्रान्तिक अनुपात आदि सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग किया गया है।

प्रदत्तों का सांख्यिकीय विश्लेषण एवं व्याख्या तथा परिकल्पना की जाँच :

परिकल्पना–

बी0एड0 अध्ययनरत् छात्र एवं छात्राओं की खुशहाली में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

जाँच सारणी

बी0एड0 अध्ययनरत् छात्र–छात्राओं में खुशहाली का मध्यमान, मानक विचलन, मानक त्रुटि एवं क्रान्तिक मान

वर्ग	संख्या (N)	मध्यमान (M)	मानक विचलन (S.D.)	स्वतंत्रता मान (df)	मध्यमान अन्तर (D)	मानक त्रुटि संख्या (SE_D)	क्रान्तिक मान (C.R. Value)	सार्थकता
छात्र	50	258.44	23.600	1.98	8.2	38.170	0.2148	0.05 स्तर पर असार्थक
छात्रा	50	249.24	29.999					

उपरोक्त सारणी के तथ्य अवलोकन से स्पष्ट है कि बी0एड0 अध्ययनरत् छात्र एवं छात्रा प्रशिक्षणार्थियों की खुशहाली में दोनों के मध्यमानों के मध्य क्रान्तिक अनुपात का मान 0.2148 प्राप्त हुआ जो कि df 98 पर सार्थकता के 0.05 स्तर के सारणीमान 1.98 से कम है।

अतः परिकल्पना स्वीकृत हुई अर्थात् बी0एड0 अध्ययनरत् छात्र एवं छात्रा प्रशिक्षणार्थियों के मध्य खुशहाली में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया गया। दोनों की खुशहाली में समानता पायी गयी।

स्पष्ट है कि जिस प्रकार छात्र खुशहाली से सम्बन्धित विषय, प्रकरण, तथ्य, विचार, भावना, जीवन संतुष्टि, सामाजिक अन्तरक्रिया, भावनात्मक एवं मानसिक स्थिरता के प्रति दृष्टिकोण रखते हैं। उसी प्रकार छात्रा प्रशिक्षणार्थी भी रखती है।

शोध अध्ययन के निष्कर्ष :

किसी भी शोध अध्ययन कार्य की पूर्णता हेतु उसके निष्कर्षों पर पहुंचना शोधकर्ता के लिए आवश्यक एवं महत्वपूर्ण होता है। प्रस्तुत शोध अध्ययन के शोध शीर्षक **''बी0एड0 अध्ययनरत् प्रशिक्षणार्थियों की खुशहाली का अध्ययन''** के शोध कार्य हेतु उद्देश्य एवं परिकल्पनाओं की सांख्यिकीय विधियों के माध्यम से जाँच की गयी। जाँच अध्ययनोपरान्त निष्कर्ष में परिकल्पना स्वीकृत पायी गयी। निष्कर्षतः बी0एड0 अध्ययनरत् छात्र एवं छात्रा प्रशिक्षणार्थियों की खुशहाली में समानता दृष्टिगत हुई।

भावी शोध अध्ययन हेतु सुझाव :

शोधकर्ता के प्रस्तुत इस शोध अध्ययन के आधार पर भविष्य में शोध हेतु इससे सम्बन्धित सम्भावनाएं निम्नलिखित बन सकती हैं–

प्रस्तुत अध्ययन में बी0एड0 अध्ययनरत् छात्र एवं छात्रा का अध्ययन किया गया है। भविष्य में हिन्दी एवं अंग्रेजी माध्यम के विद्यार्थियों, सामान्य एवं दिव्यांग विद्यार्थियों तथा लिंग, क्षेत्र विद्यालय प्रकार एवं धर्म के आधार पर भी शोध अध्ययन कार्य किये जा सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पाण्डेय, रामशकल एवं ममता चतुर्वेदी (2013–14); उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, आगरा–2, अग्रवाल पब्लिकेशन संशोधित संस्करण, पृष्ठ संख्या–03
2. शरतेन्दु, सत्यनारायण (2007–08); मूल्य शिक्षा, इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या 121
3. लाल, रमन बिहारी (2023); राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 एक सर्वेक्षण, मेरठ, आर0लाल बुक डिपाट, नवीन संस्करण, पृष्ठ संख्या–146
4. सिंह, ए0के0 (2010); मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा शिक्षा में शोध विधियाँ, वाराणसी, मोतीलाल बनारसीदास, संशोधित सस्करण, पृष्ठ संख्या 98
5. गुप्ता, एस0पी0 (2015); अनुसंधान संदर्शिका, इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवन, नवीन संशोधित संस्करण, पृष्ठ संख्या 78
6. गुप्ता, एस0पी0 एवं अलका गुप्ता (2007); व्यवहार परक विज्ञानों में सांख्यिकीय विधियाँ, इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवन, तृतीय संस्करण, पृष्ठ सं0 254

- कपिल, एच0के0 (1981); अनुसंधान विधियाँ, आगरा, हरिप्रसाद भार्गव पुस्तक प्रकाशन।
- गुप्ता, एस0पी0 (2007); उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवन, नवीन संस्करण।
- बुच, एम0बी0 (1972); सेकेण्ड सर्वे आफ रिसर्च इन एजूकेशन, सोसाइटी फार एजूकेशनल रिसर्च एण्ड डेवलपमेन्ट, बरौदा, भारत।
- Shodganga.inflibnet.ac.in
- https://ndl.itlkjp.ac.in

प्रेमचंद के कथा साहित्य में पुरुष पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण

लाल बाबू कुमार*

कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद हिंदी साहित्य के एक ऐसे शिखर पुरुष हैं जिन्हें भारतीय समाज व संस्कृति की मूल नायक के रूप में जाना जाता है। उन्होंने अपने साहित्य में जिस आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को दिखाया, वह किसी मानवीय संजीवनी से कम नहीं है। इनके कथा साहित्य में एक ओर स्त्रीवाद पर गहरा चिंतन है तो दूसरी ओर पुरुषवाद पर गंभीर अभिव्यक्ति भी है जिसमें पुरुष पात्रों की बेरोजगारी मजदूरी, किसानी, महाजनी, जमींदारी, शोषक, शोषित, आदर्श, दर्शन,र ाजनीति, तर्क, क्रांति, त्याग, समर्पण आदि जैसे कई भाव देखने को मिलते हैं। प्रेमचंद के पुरुष पात्रों का चरित्र तत्कालीन भारतीय समाज में कई ज्वलंत मुद्दों को उजागर करता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद कथा साहित्य के बेजोड़ उस्ताद है। इनके कथा की बारीकियों ने इन्हें भारतीय साहित्य ही नहीं विदेशी साहित्य में भी अपनी एक विशेष पहचान बनाई है। विदेशी साहित्य प्रेमी हिंदुस्तान का उपनाम ''प्रेमचंद का देश'' कहकर संबोधित करते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद के प्रसिद्धि के बारे में कहा है – ''प्रेमचंद उन लेखकों में से है जिनकी रचनाओं से बाहर के साहित्य प्रेमी हिंदुस्तान को जानते हैं।''[1]

प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य में जिस तरह से पुरुष पात्रों को गढ़ा है, उन्हें ऐसा जीवंत किया है कि वे साहित्य जगत में अमर हैं। उनकी बुलंदी अक्षुण्ण है। प्रेमचंद के पुरुष पात्र अपनी आंतरिक छटपटाहटों और मानसिक उद्वेलनों को जिस संजीदगी से सभी के समक्ष रखते हैं उससे यह प्रमाणित होता है कि वे वास्तव में भारतीय समाज के दिशासूचक है। प्रेमचंद इन्हीं दिशा सूचकों के द्वारा भारतीय समाज में एक ऐसे संस्कार और संस्कृति का साम्राज्य स्थापित करते हैं जिसकी आवश्यकता आज भी है। प्रेमचंद के पुरुष पात्रों की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे यथार्थवादी, आदर्शवादी, वर्गीय प्रतिनिधित्व, संघर्षशील, मानवीय मूल्यों और प्रेरणादायक भावनाओं के सफल वाहक हैं। इसी कारण प्रेमचंद के सभी पात्र चाहे मनुष्य हो या पशु वे काफी चर्चित हैं। प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक मूल्यों को उजागर करता है जिसमें उनके पुरुष पात्र अपनी एक अलग छवि लिए हुए हैं। उनका व्यक्तित्व कारुणिक ,सहानुभूतिपरक व त्याग – समर्पण के भाव से लवरेज है। प्रेमचंद के साहित्य के बारे में जोसेफ दास कहते हैं –''प्रेमचंद का साहित्य यथार्थवाद और सामाजिक सुधार की भावना से ओत–प्रोत है। उनकी रचनाएं ग्रामीण भारत की समस्याओं, शोषण, गरीबी और सामाजिक अन्याय पर प्रकाश डालती है। प्रेमचंद की साहित्यिक विशेषताएं उनके पात्रों की वास्तविकता, संवाद की स्वाभाविकता और कथा की सरलता में प्रकट होती है।''[2]

प्रेमचंद की लेखनी की अदभुत कला ने पाठकों को भावविभोर कर दिया है। उन्होंने लगभग तीन सौ कहानियां लिखी है। इन कहानियों के पुरुष पात्रों ने साहित्य जगत में इतिहास रच दी है। 'नमक का दारोगा' – मुंशी वंशीधर, पंडित अलोपोदीन, 'शंखनाद'– गुमान, 'मंत्र'–डॉ. चड्ढा, बुड्ढा भगत, 'इस्तीफा'– साहब, फतहचंद क्लर्क, 'सद्गति'– पंडित घासीदास, दुःखी चमार, 'सवा सेर गेहूं' –शंकर किसान (कुर्मी), ब्राह्मण, 'पंच परमेश्वर' –अलगू चौधरी ,जुम्मन शेख, खाला जान, 'कफन' –घीसू, माधव, 'ईदगाह' –हामिद, 'नशा' – लेखक, ईश्वरी, 'अलग्योझा' –रघु, 'गुल्ली डंडा'– इंजीनियर,गया, 'खून सफेद' – जदु राय, 'जुलूस'– बीरबल, 'जिहाद'– धर्मदास, खजांची चंद, 'प्रायश्चित'–मदारी लाल, 'ठाकुर का कुआ'– जोखू, 'तावान' –छकौड़ीलाल, 'घरजमाई'– हरिधन, 'कायर' – केशव, 'दो बैलों की कथा' – हीरा, मोती (दोनों पशु) आदि कहानियों के पुरुष पात्रों ने अपने चरित्र से इस कदर सभी को आकर्षित किया कि वे सभी भारतीय समाज के पुरोधा बन गए। इनका चरित्र कई मायनों में महत्वपूर्ण है। अब प्रेमचंद के कथा साहित्य के कुछ पुरुष पात्रों के चरित्र की चर्चा करते हैं। 'हल्कू' जो पूंजीवादी व्यवस्था का मारा हुआ विवश और लाचार किसान है। उसकी स्थिति ऐसी है कि वह हड्डी तोड़ परिश्रम करने के बाद भी न तो भर पेट भोजन पाता है न ही तन ढकने के पूरे कपड़े। वह अपने कमाई से पूस की ठंडी रात का सामना करने के लिए एक कम्बल भी नहीं खरीद सकता

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी– विभाग, आर. बी.जी.आर. कॉलेज, महाराजगंज, सिवान

है। हाड़ कंपाने वाली ठंड रातों में वह बिना कंबल के अपने फसल की रखवाली नीलगायों से जिस तरह करता है, वह किसी भयंकर युद्ध से कम नहीं है। वह अपनी बेबसी पर सोचता है – ''एक–एक भगवान ऐसे पड़े हैं जिनके पास जाड़ा जाए तो गर्मी से घबड़ा कर भागे। मोटे–मोटे गद्दे, लिहाफ, कम्मल। मजाल है जाड़े का गुजर हो जाए। तकदीर की खूबी। मंजूरी हम करे मजा दूसरा लूटे।''[3]

अलगू चौधरी और जुम्मन शेख प्रेमचंद के दो ऐसे पात्र हैं जो घनिष्ठ मित्र है। लेकिन पंचायती की न्यायिक प्रक्रिया ने उन्हें एक दूसरे का दुश्मन बना दिया। दोनों ने अपने चरित्र से यह साबित कर दिया कि पंच के मुंह में परमेश्वर निवास करते हैं। दोनों ने मिलकर समाज में पंचायती राज की पुनः स्थापना की है। न्याय के सिंहासन पर जब दोनों मित्र बारी–बारी से बैठते हैं तब उन्हें अपने जिम्मेदारी का एहसास होता है। उनके अंतरात्मा से यह आवाज निकलती है कि पंच न तो किसी के भाई होते हैं और न ही किसी के संबंधी। उनके नजर में सब बराबर है। उनके मुंह से निकले एक–एक शब्द देववाणी है। जुम्मन शेख पंच के पद पर बैठते ही अपने मन में सोचने लगता है –''मैं इस वक्त न्याय और धर्म के सर्वोच्च आसन पर बैठा हूं। मेरे मुंह से इस समय जो भी निकलेगा वह देववाणी के सदृश है x x x x x x x x x x x मुझे सत्य से जौ भर भी टलना उचित नहीं है।''[4]

एक पात्र दीवान सुजान सिंह है जो उम्र बढ़ने के साथ अपने को रियासत से सेवानिवृत लेना चाहते हैं। लेकिन नए दीवान की खोज के लिए राजा दीवान सुजान सिंह को ही यह जिम्मेदारी देते हैं। सुजान सिंह दीवान की खोज के लिए सुयोग्य उम्मीदवारों के बीच कड़ी परीक्षा का आयोजन करते हैं। उनकी यह परीक्षा कोई साधारण परीक्षा नहीं है बल्कि नैतिक मूल्यों की संजोई हुई एक ऐसी विरासत है जिसे पीढ़ी दर पीढ़ी संजोने की आवश्यकता है। जब नए दीवान का चुनाव सुजान सिंह कर लेते हैं तब सभी प्रतिभागियों के बीच में कहते हैं – ''जो पुरुष स्वयं जख्मी होकर भी एक गरीब किसान की भरी हुई गाड़ी को दल–दल से निकाल कर नाले के ऊपर x x x x x x x x उसके ह्रदय में साहस, आत्मबल और उदारता का वास है। ऐसा आदमी x x x x x x x वह चाहे धोखा खा जाए परंतु दया और धर्म से कभी न हटेगा।''[5]

पंडित अलोपोद्दीन और दारोगा वंशीधर दो ऐसे ही पात्र हैं जिनके बीच विचारों का साधारण बहस ही नहीं है बल्कि धर्म और धन के बीच घनघोर टकराहट है। पंडित अलोपोदीन को अपने धन पर बहुत ही घमंड है लेकिन उनका यह घमंड धर्म के आगे चकनाचूर हो जाता है। धन उछल–उछल कर धर्म पर वार करता है लेकिन धर्म उसका हर वार आसानी से विफल कर देता है। दरोगा मुंशी वंशीधर कहते हैं–''एक हजार नहीं ,एक लाख भी मुझे सच्चे मार्ग से नहीं हटा सकते हैं ।''[6]

'हामिद' एक नाबालिग पात्र हैं जो बच्चा होकर भी बड़ों के जैसे सोचता और काम करता है। वह त्याग और सहनशीलता के साथ ही भरपूर आत्मविश्वास से भरा हुआ है। उसके मन में बालपन की नहीं बल्कि दादी के प्रति अटूट प्रेम और समर्पण का हिलोरे मार रहा है। उसे मेले की भीड़ और मनोरंजन के बीच भी उसके दादी के कष्ट दिखाई दे रहे हैं। इसलिए वह मेले में मिठाई या खिलौना न खरीदकर दादी के लिए रोटी पकाने वाला चिमटा खरीदता है। जब उसके दोस्त मेले से लौटते समय उसके द्वारा खरीदे गए चिमटे का मजाक उड़ाते हैं तब वह अपने तार्किक बातों से अपने दोस्तों का मुंह बंद कर देता है – ''मेरा चिमटा चाहे तो तुम्हारी खंजरी का फार डाले ।बस एक चमड़े की झिल्ली लगा दी ढ़ब–ढ़ब बोलने लगी। जरा सी पानी लग जाय तो सब कुछ खत्म हो जाए। मेरा बहादुर चिमटा आग में, पानी में,तूफान में बराबर डटा रहेगा।''[7]

'गुमान' एक निठल्ला ,आलसी और कामचोर पात्र है। लेकिन परिस्थिति वश उसके मन में अपने कर्तव्यों का एहसास हो जाता है। अपने पत्नी और बच्चों की हुई दयनीय स्थिति की जिम्मेदार खुद को मानते हुए उसे अपने गलती महसूस होती है। उसके अंदर छुपा हुआ कर्तव्य का लोहा पिघल जाता है। वह अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए अपनी पत्नी से कहता है – ''बच्चे पर इतना क्रोध क्यों करती हो ? तुम्हारा दोषी मैं हूँ। मुझको जो दंड चाहे दो। परमात्मा ने चाहा तो कल से लोग इस घर में मेरा और मेरे बाल–बच्चों का भी आदर करेंगे।''[8]

प्रेमचंद ने अपने पुरुष पात्रों को इस तरह के जीवन दर्शन से पोषित किया है कि वे स्वयं में एक सामाजिक पाठशाला बन गए हैं। इसी संदर्भ में प्रेमचंद के दो ऐसे ही पात्रों का जिक्र किया जा रहा है। घीसू और माधव (पिता–पुत्र) जो जातिवाद के चक्की में तो पीस ही रहे हैं साथ ही दरिद्रता की एक ऐसी कहर को झेल रहे हैं कि जिसे देखकर इंसानियत भी कांप जाए। भूख के सामने मानवता भी शर्मसार हो जाती है, जिसे इन दोनों पात्रों ने साबित कर दिया है। एक स्त्री जो बहु और पत्नी बनकर इन दोनों के जीवन में आती है लेकिन भूख की आग में इन दोनों के द्वारा वह तड़प– तड़प कर मारी जाती है। उसके मरने के बाद गांव

वाले उसके कफन के लिए जो चंदा इकट्ठा करके देते है। ये दोनों उस रुपए से अपने जीवन की सबसे बड़ी इच्छा पूरी करते हैं। घीसू कहता है – ''हां ! बेटा, बैकुंठ में जाएगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते –मरते हमारे जीवन की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गई। वह न बैकुंठ जाएगी तो क्या ये मोटे–मोटे लोग जाएंगे, जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा नहाते हैं और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं।''[9]

इसी तरह प्रेमचंद का एक पात्र फतहचंद क्लर्क है जो अपनी पारिवारिक मजबूरियों के चलते अपने कार्यालय के बिगड़ैल और उद्दंड साहब का सब अत्याचार सहता है। कार्यालयी व्यवस्था में किस तरह से अधीनस्थ कर्मचारियों का शोषण होता है,फतहचंद उसी का यथार्थ रूप है। लेकिन जब उसके मन में आत्मसम्मान का भाव उसके पत्नी के द्वारा जगाया जाता है तब वह साहब को ऐसी मजा चखाता है कि उसके सिर से साहबी का भूत एक ही झटके में उतर जाता है। वह अपने किए पर शर्मिंदा होकर माफी मांगने लगता है। लेकिन फतह चंद का स्वाभिमान उसे दुबारा साहब के साथ काम करने से इनकार कर देता है और कहता है – ''अच्छी बात है, अब मैं जाता हूँ, आज से मेरा इस्तीफा है। मैं कल इस्तीफा में यह लिखकर भेजूंगा कि तुमने मुझे गालियां दीं, इसलिए मैं नौकरी नहीं करना चाहता हूँ।''[10]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचंद के कथा साहित्य में जितने भी पुरुष पात्र है, वे सभी एक विशेष चारित्रिक उपस्थिति के साथ कथा में व्यंजित है। प्रेमचंद के कथा का एक बुड्ढा विषहर पात्र है जो अपने मंत्र से डॉ. चड्ढा के इकलौते बेटे को सर्पदंश से जीवन दान दिलाता है। यह वही डॉ चड्ढा है जिसने बूढ़े विषहर के बीमार पुत्र को अपने क्रीड़ा समय में देखने से इनकार कर दिया था। जबकि बूढ़े विषहर के जीवन का अंतिम सहारा यही बीमार पुत्र रह गया था। यह पुत्र भी उसका मर गया। यह बात ज्ञात होते ही डॉ. चड्ढा पश्चाताप के आंसू में डूब जाते हैं। उन्हें यह एहसास होता है कि जीवन में प्रत्येक व्यक्ति का महत्व है। डॉ. चड्ढा कहते हैं – ''आज उस दिन की बात करके मुझे जितनी हो रही है, उसे प्रकट नहीं कर सकता। मैं उसे अब खोज निकलूंगा और उसके पैरों पर गिरकर अपना अपराध क्षमा कराऊंगा।''[11]

प्रेमचन्द का एक पात्र शंकर है जो सीधा–साधा गरीब किसान है। एक धूर्त्त और घोर कपटी ब्राह्मण के चंगुल में वह इस कदर फंस जाता है कि उसके साथ ही उसके परिवार का भी जीवन दाव पर लग जाता है – मात्र सवा सेर गेहूं के कर्ज में। उस ब्राह्मण से सवा सेर गेहूं कर्ज क्या ले लिया ? उसके जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी बन गई। वह दुःखी मन से कहता है – ''इतना स्वार्थ ! एक सेर अनाज को अंडे की भांति सेकर आज यह पिशाच खड़ा कर दिया जो मुझे निगल जाएगा।''[12]

और अंत में, प्रेमचंद के पुरुष पात्रों के बारे में निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि उनके कथा साहित्य के पुरूष पात्र महानायक है। उनका चरित्र वर्तमान में भी प्रासंगिक है और भारतीय संस्कार व संस्कृति के पोषक है। इतना ही नहीं प्रेमचंद के पुरुष पात्र यथार्थ के धरातल से चित्रित किए हैं, उनके चरित्र चित्रण में किसी प्रकार का सामाजिक रंगरोगन या चारित्रिक लीपापोती नहीं की गई है। वे जिस दशा में हैं, उन्हें उसी दशा में प्रस्तुत किया गया है।

संदर्भ सूची :–

1. राम विलास शर्मा, ''प्रेमचंद और उनका युग'' 2018, पृष्ठ – भूमिका से।
2. जोसफ दास ''साहित्यिक विशेषताएं और जीवन मूल्यों का विश्लेषणात्मक अध्ययन'' इंटरनेशनल जर्नल ऑफ क्रिएटिव रिसर्च थॉट्स 2024, 12(5)
3. पूस की रात (कहानी)
4. पंच परमेश्वर (कहानी)
5. परीक्षा (कहानी)
6. नमक का दारोगा (कहानी)
7. ईदगाह (कहानी)
8. शंखनाद (कहानी)
9. कफन (कहानी) सभी
10. इस्तीफा (कहानी)
11. मंत्र (कहानी)
12. सवा सेर गेहूं (कहानी)

मानव मूल्यों का सृजनकर्ता है

डॉ. नवीन कुमार नीरज*

अज्ञेय के शिक्षा संबंधी विचार विभिन्न महाविद्यालयों के दीक्षांत समारोह में दिए गए व्याख्यान हैं। इन व्याख्यानों में उन्होंने शिक्षा संबंधी भारत की स्थिति, स्वतंत्र भारत की शिक्षा संबंधी नीतिगत निर्णय और उसकी वस्तुस्थिति पर टिप्पणी करते हुए शिक्षा के मूल उद्देश्य को रेखांकित किया है। अज्ञेय ने दीक्षांत समारोह में अनेक व्याख्यान दिए थे। उन व्याख्यानों में शिक्षा संबंधी उनके विचार के मूल निहितार्थ को इस शोध पत्र में व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है।

अधूरी आधुनिक शिक्षा : अज्ञेय की दृष्टि में महाविद्यालय, विश्वविद्यालय से जो शिक्षा हमें मिलती है वह नौकरी दिलाने के लिए, लड़कियों को अच्छा वर दिलाने के लिए तो ठीक है, लेकिन उस शिक्षा से हमें कोई जीवन दृष्टि नहीं मिलती है। अज्ञेय इस शिक्षा को अपर्याप्त मानते हैं। "साक्षरता-प्रसार के आग्रह में बहुत दूर तक साक्षरता और शिक्षितता का भेद अनदेखा कर दिया गया है; और साक्षरों की संख्या बढ़ाने में हम शिक्षितों का अनुपात और कम करते गए हैं। पुराने निरक्षर भी उतने कम शिक्षित नहीं थे; आज के बहुत-से साक्षर, बल्कि सुपठित साक्षर भी प्राय: अशिक्षित हो गए हैं, क्योंकि वे पहले से कम स्वतंत्र व्यक्तित्व-संपन्न हो गए हैं : उनका व्यक्तित्व भी क्षीणतर हुआ है, उनका विवेक भी कुंद हुआ है, उनका स्वातंत्र्य भी कुंठित और नए जीवन के प्रति अनुकूलन कि उनकी शक्ति और प्रतिभा तो और भी जर्जर हो गई है।"[1]

फ्राइड का जिक्र करते हुए कहते हैं, "आधुनिक सभ्यता के रोगों का निदान करते हुए फ्राइड ने कहीं कहा था कि उस सभ्यता की देन है पुरुषों के लिए पुंसत्वहीनता और स्त्रियों के लिए हिस्टीरिया : हमारी आधुनिक शिक्षा भी अपने सही संदर्भ इस हद तक खो बैठी है कि वह सभ्यता की विकृतियों का निराकरण करने की बजाय उन्हें और बढ़ाती ही है।"[2]

वे कहते हैं कि आज की शिक्षा का अधिकतर भाग ऐसा ही है जीवन संदर्भ से कटा हुआ। इसलिए वह हमें जीवन के योग्य नहीं बनाता, बनाने में कोई योग नहीं देता, बल्कि हमारी सहज योग्यता को भी कुंठित ही करता है।

शिक्षा का मूल उद्देश्य : शिक्षा का मूल उद्देश्य है कि शिक्षा हमें मुक्त करती है। शिक्षा हमारे स्वतंत्र व्यक्तित्व को विकसित करने में मदद करती है। वे कहते हैं कि जो शिक्षा स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण नहीं करती, उसके निर्माण में योग नहीं देती, वह शिक्षा व्यर्थ है।

अज्ञेय की नजरों में शिक्षा का मूल उद्देश्य यह है कि वह हमें इस योग्य बनाएं कि हम मानव-मूल्यों की पहचान कर सकें, उसकी परख कर सकें। इस दृष्टिकोण से देखें तो— जो शिक्षा हमें मिल रही है, वह इस दिशा में कोई योगदान दे रही है या नहीं?

हमारी शिक्षा इस दिशा में नहीं हुई है कि हम मानव-मूल्य की पहचान कर सकें। अधिक से अधिक हम मानवीय जीवन की व्यवस्था में नियम-कानून की तो बात करते हैं, अधिकार की भी बात खूब होती है। पर पात्रता की बात नहीं होती, ऐसे कानून और विधि निषेधों की मांग होती है जो गलत आचरण को असंभव बना देंगे।

हम क्रांति की तो खूब बात करते हैं लेकिन यह भी देखना होगा की क्रांति भी केवल निषेधों के सहारे नहीं चलती। जीवन की व्यवस्था को चलाने के लिए नैतिकता के विवेक की आवश्यकता होती है। क्या आज की शिक्षा हमें नैतिक मूल्य के विषय में कुछ बताती है? वह हमें इस दिशा में कोई मार्गदर्शन करती है कि नैतिक मूल्य को किस प्रकार से निर्धारित किया जाए, उसका आधार क्या हो?

वास्तव में नैतिकता का आधार क्या करना चाहिए नहीं बल्कि क्या हो सकता है ही होता है। सत्य बोलना चाहिए का महत्व वही होता है जहाँ झूठ बोलने को प्रलोभन हर समय रहता है। जो हर समय सत्य बोलता है, क्योंकि हर समय सत्य बोल सकता है, उसे कदाचित ध्यान भी नहीं आता कि सत्य बोलना भी चाहिए। जिन मूल्यों पर हम वास्तव में आचरण करते हैं उन्हें भूले रहते हैं। अर्थात् जिन पर नहीं चलते उनकी दुहाई देते हैं। इसलिए मानवीय नैतिकता के संदर्भ में भी श्रेष्ठ स्थिति यही है कि हम 'चाहिए' के साथ प्रतिबद्ध न हो बल्कि यह पहचान लें कि हमारी श्रेष्ठ संभावनाएँ क्या है, क्योंकि फिर वही हमें होना होगा।

भारत की वाचिक परंपरा : भारतीय संस्कृति की ज्ञान परंपरा में हमेशा से यह व्यवस्था रही थी कि वाचिक स्तर पर ही सही, समाज में प्रत्येक व्यक्ति तक शिक्षा का प्रसार हो। जीवन में संस्कारों को भरने की भारत की अपनी एक परंपरा रही है। अक्षर का ज्ञान नहीं होने के बावजूद भी भारतीय वाचिक परंपरा से जीवन के मूल संस्कार को पाते रहे थे।

---

* पी.डी.एफ शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, मो. – 7011120739
मेल पता – nk.niraj82@gmail.com

अज्ञेय भारतीय संस्कृति में शिक्षा का मूल अभिप्राय पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि भारत में अधिकतर आबादी निरक्षर होते हुए भी शिक्षा से वंचित नहीं रही है। भारत की अपनी एक वाचिक परंपरा रही है जो सदियों से भारत के जनमन को शिक्षित करती रही है और जीवन को समृद्ध बनाती रही है। "हमारा देश सदियों से श्रुति-परंपरा में पला है; काला अक्षर उसके लिए भले ही भैंस बराबर रहा हो, पर वाणी की जो उज्जवल मूर्ति उसके स्मृति पटल पर जगमगाती रही है वह उसे अंधकार-भरे जीवन में राह दिखाती रही है, सार्थकता और अंत:समृद्धि देती रही है। स्मृति के सहारे संचय किया हुआ यह ज्ञान ही वास्तव में आप्त ज्ञान है; उसे काम में लाने के लिए संदर्भ ग्रंथों की खोज में नहीं जाना पड़ता। किंतु लोक समाज की यह संपत्ति, जो कि सारे समाज की साझी पूँजी और उसकी समृद्धि का आधार थी, साक्षरता के आने के साथ-साथ बड़ी तेजी से लुप्त होने लगती है।"[3]

जीवन में नैतिकता का स्थान : अज्ञेय शिक्षा में नैतिकता को अत्यधिक महत्व देते हैं। उनके लिए स्वतंत्रता सर्वोपरि है। स्वतंत्रता हमें मुक्ति देती है। शिक्षा भी यही काम करती है। असल में सही शिक्षा वही होती है जो हमें स्वतंत्रता का बोध करवाती है।

शिक्षा हमें स्वतंत्र करती है, मुक्त करती है– लेकिन इसका अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि हर चीज़ से मुक्त कर देती है। अज्ञेय की नजरों में शिक्षा नैतिकता से मुक्ति नहीं दिलाती। विद्या जिस अर्थ में विमुक्त करती है वह नैतिक दायित्वों से मुक्ति नहीं है। विज्ञान देर से और अनिच्छा से ही सही, इस परिणाम तक पहुँचा है कि मानव जीवन को निर्धारित करने वाले तथ्यों में कुछ ऐसे अवश्य हैं जिनका रहस्य बुद्धि और तर्कों के द्वारा उद्घाटित नहीं होता, लेकिन जिन्हें फिर भी अमान्य नहीं किया जा सकता। उन्हें अमान्य करने की कोशिश सामाजिक स्वास्थ्य में विकृति ले आती है। जीवन के अधिकाधिक अंगों को विज्ञान के प्रकाश की परिधि में लाता हुआ भी वह स्वीकार करता है कि कुछ क्षेत्र उस प्रकाश से परे हैं जिन्हें इस धुँधले रूप में ही स्वीकार करना होगा। कदाचित नैतिक मूल्यों की अनिवार्यता स्वयं उसी धुँधले क्षेत्र की देन है। सभी तरह के अनैतिक कर्म करते हुए भी मानव अंततोगत्वा नैतिक और नीति-विश्वासी प्राणी है।

अज्ञेय कहते हैं, "हमारा समाज सफलतावादी समाज ही है। सफलता ही उसकी नैतिकता है और व्यवहारिक होना ही उसमें समझदार होना है। आज विवेकवान होना नहीं, समझदार होना ही ठीक समझा जाता है– और समझदारी वह है जो सफलता दिलाए। … लेकिन वास्तव में आपा-धापी की यह दृष्टि न तो वैज्ञानिक है न आधुनिक और न ही मानवतावादी दृष्टि है। वैज्ञानिक मानववाद भी परलौकिक नैतिकताओं में विश्वास छोड़ देने के बाद अंतत: इस परिणाम पर पहुंचा है कि अच्छे-बुरे का विवेक मानव स्वभाव का अंग है और मनुष्यत्व की एक बुनियादी आवश्यकता है। सद्-असद्-विवेक की मनुष्य को आवश्यकता है। उसके बिना वह जी नहीं सकता। यह दूसरी बात है की सद्-असद् की परिभाषा सापेक्ष है और लगातार बदलती आयी है; लेकिन इन दोनों में भेद कर सकना और उसके लिए कोई आधार बनाए रखना मनुष्य मात्र के लिए आवश्यक है– क्योंकि इसके बिना वह मनुष्य ही नहीं है। … और जो विद्या वास्तव में विमुक्त करती है वह इस बात को जानती है। वह इसी का गहरा संस्कार देती है।"[4] इसीलिए शिक्षा में नैतिकता का प्रवेश जरूरी है।

नैतिक शिक्षा : अज्ञेय के अनुसार, नैतिकता की शिक्षा– शिक्षा का अनिवार्य अंग होना चाहिए। विश्वविद्यालय की ही नहीं, स्कूल की शिक्षा में भी चरित्र-निर्माण पर उतना बल नहीं दिया जाता जितना दिया जाना चाहिए, जो कि खेदजनक सच्चाई है। हमारी शिक्षा-पद्धति चरित्र-निर्माण के प्रति उदासीन होती जा रही है और उसके साथ-साथ इस मामले में भी अपना कर्तव्य नहीं निभा पाती कि शिक्षार्थियों में मूल्यों का एक गहरा बोध जाग्रत हो। मूल्य की पहचान से जीवन को ऊपर उठाने में, अर्थवान बनाने में सहायता मिलती है। मूल्यों की पहचान का सही अर्थ है कि क्या संसार में ऐसा कुछ नहीं है जो हमको अपने शरीर के स्तर से ऊपर उठा सके? उससे ऊपर उठने की चुनौती दे सके? जब हम इसके प्रति सजग होते हैं तब हम जान पाते हैं कि जीवन की साधारण से साधारण परिस्थितियों में भी विराट के संस्पर्श की संभावना खुली है और हमें उसमें प्रवेश करने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए, उसके प्रति हमेशा सजग रहना चाहिए। अगर हमारी शिक्षा सही है तो हर शिक्षा की एक बुनियादी लक्ष्य होना चाहिए कि विराट के प्रति इस खुलेपन को स्थायी संस्कार बना दे।

अपने में स्वाधीनता की पहचान : मानव तभी मानव है जब वह अपने को स्वाधीन कर्मी पहचान लेता है। यह प्रश्न सभी को अपने से पूछना चाहिए कि आप स्वतंत्र कर्मी है या नहीं? आपको अपनी पहचान अवश्य होनी चाहिए। जब आप स्वाधीन कर्मी नहीं है तो फिर आप अपने कर्म का उत्तरदायित्व कैसे लेंगे? व्यक्ति अपने से प्रश्न पूछ कर ही अपने कर्ता रूप को पहचानता है। पहचान में ही उत्तरदायित्व समाहित है। अपने से प्रश्न पूछना एक बहुत बड़ी संभावना है। जब आप अपने से प्रश्न पूछ सकते हैं तो आप उत्तरदायित्व भी ले सकते हैं। और तब आपके पास एक आधार होता है– एक नई शुरुआत करने का, अपनी जिम्मेदारी लेने का। और इसी के बीच में आपके पास आस्था का भी आधार होता है। ऐसी स्थिति में परिस्थितियों की वजह से आप कुंठित नहीं हो सकते। और असल क्रांति तो तभी घटित होती है, जब आप जान लेते हैं कि आप में विकसित होने की पूरी संभावना बनी हुई है। और खुद को बदलने का यह अधिकार आपसे कोई नहीं छीन सकता। परिस्थितियाँ चाहे जो भी हो, आप स्वयं के साथ बदलाव कर सकते हैं, आप बदल सकते हैं, आप स्वयं का

रूपांतरण कर सकते हैं। असल बात है स्वयं को पहचाना कि हम क्या हैं और हम क्या हो सकते हैं। जीवन रूपांतरण की कुंजी इसी पहचान और प्रश्न में निहित है।

अपने तक बार-बार लौट कर आना : सबसे पहले तो अपनी स्वाधीनता को पहचानना। इस पहचान के लिए बार-बार स्वयं के पास लौट कर आना होता है, अपने एकांत में आना होता है। अपनी और यह लौटना अपने अहंकार की पुष्टि नहीं है, बल्कि सामाजिक कर्मों की मूल प्रेरणा है। जब आप स्वयं को पहचानेंगे तभी किसी को कुछ देने की स्थिति में आ पाएँगे। स्वयं की यह पहचान न्याय और धर्म संगत सामाजिक कारण की मूल ऊर्जा स्रोत भी है। हमारी शिक्षा जैसी भी रही हो और हमारा भविष्य कर्म क्षेत्र चाहे जो हो– जब हम अपनी उस ऊर्जा स्रोत को पहचान लेंगे तो हमारी शिक्षा अप्रासंगिक होकर भी व्यर्थ नहीं जाएगी। क्योंकि हमारा कुछ भी व्यर्थ नहीं जाएगा, हम व्यर्थ नहीं जा सकेंगे। विरोधी और बाधाओं की कसमसाहट होगी, पराजय भी होगी, पर इस भावना के लिए जगह नहीं रहेगी कि हमारा प्रयास अर्थहीन रहा अथवा जीवन व्यर्थ गया। क्योंकि आप अपने साथ लगातार जुड़े रहेंगे और अपने को तलाशते रहेंगे, अपनी पहचान करते रहेंगे। रोज-रोज खुद को बदलते रहेंगे। इसके लिए सबसे आवश्यक चीज है कि इस ऊर्जा स्रोत को हम पहचाने, उसके साथ आचमन करें और निष्ठा पूर्वक आगे बढ़ें। तब इस राह पर चलते हुए अजाना बहुत कुछ हो सकता है पर डरावना फिर कुछ नहीं रह सकता, वहाँ तो अपनी ओर लौटना, अपने को पहचाना ही शेष रहता है।

मानव के लिए मूल्य ही सर्वोपरि है : मूल्य मानव का सिरजा हुआ मूल्य है। मानव भी मरणधर्मा है, पर वह इस बात को जानता है, जबकि दूसरे जीव नहीं जानते। इसलिए वह ऐसे मूल्यों की अवधारणा और सृष्टि कर सकता है जो मरणातीत हैं– अमर हैं। मरणधर्मा मानव निरंतर अमर मूल्य की सृष्टि करता चलता है। ऐसे सनातन मूल्य जिनके लिए प्राण भी देने पड़ें तो इसमें वह अपनी पराजय नहीं समझता, अपनी विजय मानता है। यह विरोधाभास सा लगता है कि हमारा जीना उन चीजों से सार्थक, मूल्यवान हैं– जिनके लिए हम मर जाने को तैयार हैं! सनातन सत्य की बात करके लोग मान लेते हैं कि उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि सनातन मूल्य होते हैं, जबकि सनातन सत्य मूल्य-निरपेक्ष सत्य होते हैं। 'जो जन्मा है वह मारेगा'- यह सनातन सत्य है, पर इससे कोई मूल्य-दृष्टि हमें नहीं मिलती। मिलती तब है जब बीच में किसी मूल्य की उद्भावना हम करते हैं। तो 'कुछ' की पहचान, पकड़– इसके लिए अपने जीवन की बलि दिया जा सकता है; जितनी और जैसी सही और मजबूत यह पहचान हमें होती है, उतना ही हमारा जीवन समृद्ध होता जाता है। चाहे हम जिस भी अवस्था में हों, उतना ही हमारा एकांत साक्षात्कार भरा पूरा और हमें सबसे जोड़ने वाला होता है। चाहे हम कितने अकेले क्यों न हों! अमर मूल्य की सृष्टि इसलिए आवश्यक है कि जीवन के साथ अर्थवान् संबंध जोड़ा जा सके। और यही शिक्षा का भी उद्देश्य है।

परंपरा की पहचान : एक सवाल उठता है कि अर्थवान् संबंध होता कैसे है? अज्ञेय कहते हैं की परंपरा के बिना परिवेश के साथ अर्थवान संबंध जुड़ ही नहीं सकता। निरंतरता का रिश्ता जोड़े बिना परिवेश से कोई रिश्ता नहीं जुड़ता। नए परिवेश के साथ भी जो संबंध बनता है, उसकी अर्थवत्ता में निरंतरता का बड़ा महत्वपूर्ण योग होता है। आधुनिक होने के लिए इतिहास का बोध आवश्यक होता है। बिना ऐतिहासिकता के बोध के आधुनिक होना संभव नहीं। निरंतरता की पहचान के बिना इतिहास का कोई अर्थ नहीं है। निरंतरता की पहचान ही वास्तव में इतिहास बोध का मूल और आरंभ है। निरंतरता प्रकृति में भी है, प्रकृति और मानव के बीच भी है, मानव और मानव के बीच भी। प्रकृति में हम उसे ऋतुओं के आवर्तन में देखते हैं। प्रकृति और मानव के बीच वहाँ, जहाँ मानव अपने देश परिवेश से जुड़ता है। और मानव और मानव के बीच की निरंतरता– समाज और सामाजिक संस्थाओं को जन्म देती है। और अकेले मानव में निरंतरता के बोध से ही उसका व्यक्तित्व बनता है। उसमें अस्मिता की पहचान होती है। और जहाँ तक मानवीय प्रतिभा का प्रश्न है इस निरंतरता का उत्कर्ष वहाँ होता है जहाँ यह सर्जनशील हो जाती है। सृजनशील निरंतरता ही नाना रूपों में प्रकट होती है। सभी कला-स्रष्टा– चित्रकार, मूर्तिकार, कवि अपने-अपने स्तर पर उस निरंतरता में नित्य नई कड़ी जोड़ते चलते हैं। इस प्रकार से परंपरा और सृजन विरोधी नहीं एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

वह विद्यार्थियों को संबोधित कर कहते हैं, "इसी नैरंतर्य और इस सृजनशीलता को आप सभी अपने जीवन में पहचान सकते हैं– आपकी शिक्षा चाहे जैसी रही हो। और अगर आप पहचान सकते हैं, तो आप स्वयं अपने जीवन के स्रष्टा हो सकते हैं– आपकी शिक्षा चाहे जैसी रही हो। और अगर आप अपने जीवन के स्रष्टा हैं तो आप स्वतंत्र हैं या हो सकते हैं, आपकी शिक्षा चाहे जैसी रही हो। और अगर आप स्वतंत्र हैं, या हो सकते हैं तो आप अपने जीवन-परिवेश से अर्थवान् संबंध जोड़ सकते हैं– आपकी शिक्षा चाहे जैसी रही हो। आप सभी जिसे हम 'ऐतिहासिक' कारणों से 'आजादी का युग' कहते हैं उसकी उपज हैं, आप सभी निजी अनुभवों के आधार पर जानते हैं कि वह आजादी कितनी अधूरी और उसकी परिस्थितियाँ कई बार कितनी त्रासद और गुस्सा दिलानेवाली रही हैं। नि:संदेश आपसे यह अपेक्षित होगा कि उस अधूरेपन को आप दूर करें, उन त्रासद परिस्थितियों को सुधारें या बदलें। पर उससे भी बड़ी बात यह है– उस सुधार की क्षमता भी आप में तभी होगी जब आप जानें– कि स्वयं आपमें एक संपूर्णतर स्वतंत्रता की सृष्टि करने की क्षमता है–

आपकी शिक्षा जैसी भी रही हो। ... और अगर आप अपने से प्रश्न पूछकर उस शक्ति को चेता सकते हैं, काम में ला सकते हैं तो भविष्य आपके हाथों में है– हमारा भी भविष्य और आपका भी भविष्य। और उस भविष्य को आपके हाथों में सौंपते हमें कोई अंदेशा नहीं होना चाहिए।"[5]

अज्ञेय कहते हैं कि अगर हमारी शिक्षा सही है तो जब हम देश के साथ एकात्मकता खोजने जाएँगे तब पाएँगे कि साधारण जन की अशिक्षा में ही एक एकात्मकता के अनेक आधार हैं। और ऐसा संभव हो पाता है भारतीय संस्कृति की वजह से। भारत की एक विशाल और अद्वितीय संस्कृति है। संस्कृति से, संस्कृत होकर हमें ऐसे मूल्य प्राप्त करते हैं, पहचानते हैं, जिनके लिए जान दी जा सकती है और जिन मूल्यों के लिए जान दी जा सकती है उन्हीं के लिए जीना सार्थक जीना है।

शिक्षा का काम है संस्कार देना। लेकिन हमारी शिक्षा पद्धति में इसकी ही उपेक्षा अधिक हुई है। आज के शिक्षित युवक के पास जानकारी तो अपने दो पीढ़ी पहले की तुलना में कहीं अधिक है लेकिन संस्कार? संस्कार की बात आएगी तो सीधे संस्कृति की ओर हमें मुड़ना होगा। संस्कृति एक समग्र समाज की कारयित्री अथवा निर्मात्री प्रतिभा होती है। भारतीय संस्कृति में अनूठी बात यह रही कि यहाँ समग्रता बोध का आग्रह हमेशा बना रहा। यहाँ लगातार ही अमरत्व की खोज को महत्व दिया गया। क्या हम अपनी शिक्षा में इस अंश को समाहित नहीं कर सकते? अगर नहीं करते हैं तो हमारी शिक्षा अधूरी ही कही जाएगी।

संदर्भ सूची

1. अज्ञेय, कृष्णदत्त पालीवाल (संपादक), अज्ञेय रचनावली भाग - 11, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2026, पृष्ठ 102.
2. वही, पृष्ठ 94.
3. वही, पृष्ठ 408.
4. वही, पृष्ठ 387.
5. वही, पृष्ठ 105.

हिंदी साहित्य में दिव्यांग विमर्श : स्वरूप, विकास और समकालीन परिप्रेक्ष्य

डॉ. ज्योति गौतम*

सारांश

समकालीन साहित्य में विभिन्न सामाजिक वर्गों और हाशिये पर स्थित समुदायों के जीवन, संघर्ष और अधिकारों को अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न विमर्श विकसित हुए हैं। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श की तरह ही दिव्यांग विमर्श भी एक महत्वपूर्ण सामाजिक और साहित्यिक विमर्श के रूप में उभर रहा है। दिव्यांग विमर्श का उद्देश्य समाज में उन व्यक्तियों के जीवन की वास्तविकताओं को सामने लाना है जो शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक अक्षमताओं के कारण लंबे समय तक सामाजिक उपेक्षा और भेदभाव का सामना करते रहे हैं।

हिंदी साहित्य में दिव्यांग व्यक्तियों का चित्रण प्रारंभिक काल में सीमित और सहानुभूति प्रधान रहा है। परन्तु आधुनिक और समकालीन साहित्य में यह दृष्टिकोण बदलता हुआ दिखाई देता है। अब दिव्यांगता को केवल दया का विषय नहीं बल्कि सामाजिक संरचना, अधिकार और समानता के प्रश्नों से जोड़कर देखा जा रहा है।

यह शोध-पत्र हिंदी साहित्य में दिव्यांग विमर्श के स्वरूप, विकास और समकालीन प्रासंगिकता का अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसमें यह विश्लेषण किया गया है कि किस प्रकार हिंदी साहित्य में दिव्यांग पात्रों के माध्यम से सामाजिक संवेदना, समानता और मानवाधिकारों की अवधारणा को अभिव्यक्ति मिली है।

कुंजीशब्द : दिव्यांग विमर्श, हिंदी साहित्य, सामाजिक समावेशन, मानवाधिकार, समकालीन साहित्य, सामाजिक न्याय

प्रस्तावना

समकालीन साहित्य का प्रमुख उद्देश्य समाज के विभिन्न वर्गों के जीवन और अनुभवों को अभिव्यक्त करना है। आधुनिक समय में साहित्य केवल मनोरंजन या सौंदर्यबोध का माध्यम नहीं रह गया है, बल्कि यह सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण साधन बन गया है।

इसी संदर्भ में दिव्यांग विमर्श का उद्भव हुआ है। दिव्यांग विमर्श समाज में उन व्यक्तियों की समस्याओं, संघर्षों और अधिकारों को केंद्र में लाता है जिन्हें शारीरिक या मानसिक अक्षमता के कारण समाज में हाशिये पर रखा गया है।

भारतीय समाज में लंबे समय तक दिव्यांग व्यक्तियों को दया और सहानुभूति की दृष्टि से देखा जाता रहा। उन्हें समाज के सक्रिय सदस्य के रूप में स्वीकार करने के बजाय उन्हें आश्रित और असहाय मान लिया जाता था। आधुनिक समय में यह दृष्टिकोण बदल रहा है और दिव्यांग व्यक्तियों को समान अधिकारों के साथ समाज का महत्वपूर्ण हिस्सा माना जा रहा है।

हिंदी साहित्य में भी यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। समकालीन हिंदी साहित्य में दिव्यांग पात्रों के माध्यम से समाज की असमानताओं, भेदभाव और सामाजिक संरचनाओं पर प्रश्न उठाए जा रहे हैं।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज में उपस्थित विभिन्न वर्गों की समस्याएँ और उनके जीवन-संघर्ष साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य में विभिन्न सामाजिक समूहों के अनुभवों को केंद्र में रखकर अनेक विमर्श विकसित हुए हैं। दिव्यांग विमर्श भी इसी प्रक्रिया का परिणाम है।

दिव्यांग शब्द का अर्थ है—ऐसा व्यक्ति जिसकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक या संवेदी क्षमता सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होती है। पहले ऐसे व्यक्तियों के लिए "विकलांग", "अपंग" या "निष्क्रिय" जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता था, जो नकारात्मक भाव उत्पन्न करते थे। वर्तमान समय में 'दिव्यांग' शब्द अधिक सम्मानजनक माना जाता है, जो उनकी विशिष्ट क्षमता को रेखांकित करता है।

हिंदी साहित्य में दिव्यांग विमर्श का उद्देश्य केवल सहानुभूति उत्पन्न करना नहीं, बल्कि दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों, उनकी पहचान और उनके आत्मसम्मान को स्थापित करना है।

दिव्यांग विमर्श की अवधारणा

दिव्यांग विमर्श का आशय उस वैचारिक प्रक्रिया से है जिसके माध्यम से साहित्य और समाज में दिव्यांग व्यक्तियों के जीवन, संघर्ष, अनुभव और अधिकारों पर विचार किया जाता है।

इस विमर्श का मूल उद्देश्य निम्नलिखित है—

1. दिव्यांग व्यक्तियों के प्रति समाज की संवेदनशीलता बढ़ाना।

---

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्र राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश

2. सामाजिक भेदभाव और उपेक्षा को समाप्त करना।
3. दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों और अवसरों की समानता सुनिश्चित करना।
4. दिव्यांगों की आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान को स्थापित करना।
5. दिव्यांग विमर्श यह मानता है कि दिव्यांगता केवल शारीरिक समस्या नहीं है, बल्कि यह सामाजिक संरचना और दृष्टिकोण से भी जुड़ी हुई है। समाज यदि समावेशी हो जाए तो दिव्यांग व्यक्तियों के लिए जीवन अधिक सहज हो सकता है।

हिंदी साहित्य में दिव्यांगता का प्रारंभिक स्वरूप

हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल में दिव्यांगता का चित्रण प्रायः करुणा, दया या धार्मिक दृष्टिकोण से किया गया है।

(1) भक्ति साहित्य

भक्ति साहित्य में अनेक संत कवियों के जीवन में शारीरिक सीमाएँ थीं, फिर भी उन्होंने आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ प्राप्त कीं। ऐसे उदाहरण यह दर्शाते हैं कि दिव्यांगता व्यक्ति की प्रतिभा को सीमित नहीं करती।

(2) लोक साहित्य

लोककथाओं और लोकगीतों में भी दिव्यांग पात्रों का उल्लेख मिलता है। हालांकि इन कथाओं में अक्सर उन्हें दया या हास्य के पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आधुनिक हिंदी साहित्य में दिव्यांग विमर्श

आधुनिक काल में हिंदी साहित्य ने सामाजिक यथार्थ को अधिक गंभीरता से चित्रित किया। इस दौर में दिव्यांग पात्रों के जीवन-संघर्ष को भी साहित्य में स्थान मिलने लगा।

(1) प्रेमचंद का साहित्य

आधुनिक हिंदी साहित्य के महत्वपूर्ण कथाकार मुंशी प्रेमचंद के साहित्य में सामाजिक यथार्थ का व्यापक चित्रण मिलता है। उनके कथा साहित्य में समाज के कमजोर वर्गों की पीड़ा और संघर्ष का यथार्थ चित्रण मिलता है, जो दिव्यांग विमर्श की पृष्ठभूमि तैयार करता है।

(2) समकालीन कहानी और उपन्यास

समकालीन हिंदी साहित्य में दिव्यांग पात्रों को अधिक संवेदनशील और यथार्थपरक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इन रचनाओं में दिव्यांग व्यक्तियों की समस्याओं, उनके सामाजिक संघर्ष और आत्मसम्मान की भावना को प्रमुखता दी गई है।

दिव्यांग विमर्श की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि

दिव्यांग विमर्श की अवधारणा मुख्य रूप से समाजशास्त्रीय और मानवाधिकार दृष्टिकोण से विकसित हुई है। यह विमर्श इस बात पर बल देता है कि दिव्यांगता केवल शारीरिक कमी नहीं है, बल्कि यह सामाजिक संरचना से भी जुड़ी हुई है।

दिव्यांगता के दो प्रमुख दृष्टिकोण माने जाते हैं—

चिकित्सकीय मॉडल

इस दृष्टिकोण के अनुसार दिव्यांगता व्यक्ति की शारीरिक या मानसिक अक्षमता का परिणाम है। इसलिए इसका समाधान चिकित्सा और पुनर्वास के माध्यम से किया जाना चाहिए।

सामाजिक मॉडल

सामाजिक मॉडल के अनुसार दिव्यांगता का मुख्य कारण व्यक्ति की शारीरिक कमी नहीं बल्कि समाज की संरचना है। समाज में मौजूद भौतिक और मानसिक बाधाएँ ही दिव्यांग व्यक्तियों के लिए समस्याएँ उत्पन्न करती हैं।

समकालीन दिव्यांग विमर्श सामाजिक मॉडल को अधिक महत्व देता है।

भारतीय साहित्यिक परंपरा में दिव्यांगता

भारतीय साहित्य में दिव्यांग पात्रों का उल्लेख प्राचीन काल से मिलता है। महाकाव्यों और पुराणों में कई ऐसे पात्र हैं जिनके माध्यम से दिव्यांगता का चित्रण किया गया है। उदाहरण के लिए धृतराष्ट्र का पात्र दृष्टिहीन होते हुए भी राजनीतिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार अष्टावक्र का उल्लेख भी मिलता है, जिनकी शारीरिक विकृति के बावजूद उनका ज्ञान अत्यंत उच्च माना गया है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में दिव्यांगता को केवल कमजोरी के रूप में नहीं देखा गया, बल्कि कई बार इसे आध्यात्मिक शक्ति और ज्ञान से भी जोड़ा गया है।

हिंदी साहित्य में दिव्यांग विमर्श का विकास

(क) प्रारंभिक हिंदी साहित्य

प्रारंभिक हिंदी साहित्य में दिव्यांगता का चित्रण सीमित रूप में मिलता है। अधिकांशतः इसे करुणा और सहानुभूति के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया।

(ख) आधुनिक हिंदी साहित्य

आधुनिक हिंदी साहित्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण के विकास के साथ समाज के विभिन्न वर्गों के जीवन का चित्रण अधिक स्पष्ट रूप से सामने आया। इस संदर्भ में मुंशी प्रेमचंद का साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है।

प्रेमचंद ने अपने साहित्य में समाज के गरीब, दलित और वंचित वर्गों के जीवन को चित्रित किया। उनके साहित्य में सामाजिक न्याय और समानता की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

(ग) समकालीन हिंदी साहित्य

समकालीन हिंदी साहित्य में दिव्यांग विमर्श एक स्वतंत्र विमर्श के रूप में विकसित हो रहा है। इस दौर में लेखकों ने दिव्यांग व्यक्तियों के अनुभवों और संघर्षों को केंद्र में रखा है।

समकालीन लेखन में यह स्पष्ट रूप से दिखाया गया है कि दिव्यांग व्यक्ति केवल सहानुभूति के पात्र नहीं हैं, बल्कि वे समाज के सक्रिय और सक्षम सदस्य भी हो सकते हैं।

दिव्यांग विमर्श के प्रमुख आयाम

(1) सामाजिक आयाम

समाज में दिव्यांग व्यक्तियों को अक्सर उपेक्षा और भेदभाव का सामना करना पड़ता है। साहित्य इस समस्या को उजागर करता है और समाज को संवेदनशील बनने का संदेश देता है।

(2) मनोवैज्ञानिक आयाम

दिव्यांग व्यक्तियों के जीवन में आत्मविश्वास, आत्मसम्मान और मानसिक संघर्ष महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। साहित्य इन मनोवैज्ञानिक पक्षों को भी अभिव्यक्त करता है।

(3) आर्थिक आयाम

दिव्यांग व्यक्तियों के सामने रोजगार और आर्थिक आत्मनिर्भरता की समस्या भी गंभीर होती है। समकालीन साहित्य इन चुनौतियों को सामने लाता है।

(4) सांस्कृतिक आयाम

साहित्य यह दिखाता है कि दिव्यांग व्यक्ति भी समाज और संस्कृति के सक्रिय सहभागी हो सकते हैं।

दिव्यांग विमर्श और मानवाधिकार

दिव्यांग विमर्श का संबंध मानवाधिकारों से गहराई से जुड़ा हुआ है। आधुनिक लोकतांत्रिक समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त हैं। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा के लिए United Nations ने कई महत्वपूर्ण पहल की हैं। भारत में भी दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए कई कानून बनाए गए हैं।

समकालीन परिप्रेक्ष्य

समकालीन समय में दिव्यांग विमर्श को वैश्विक स्तर पर भी महत्व प्राप्त हुआ है। शिक्षा, रोजगार और सामाजिक जीवन में दिव्यांग व्यक्तियों की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए अनेक नीतियाँ और कानून बनाए गए हैं। भारत में भी दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा के लिए विभिन्न प्रयास किए जा रहे हैं। समकालीन हिंदी साहित्य में यह विमर्श सामाजिक न्याय और समानता के प्रश्नों से जुड़ गया है।

आज के साहित्यकार दिव्यांग पात्रों को केवल दया के पात्र के रूप में नहीं, बल्कि संघर्षशील और आत्मनिर्भर व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

हिंदी साहित्य में दिव्यांग विमर्श की चुनौतियाँ

हालाँकि दिव्यांग विमर्श का महत्व बढ़ रहा है, फिर भी इसके सामने कई चुनौतियाँ हैं—

1. साहित्य में दिव्यांग पात्रों की संख्या अभी भी सीमित है।
2. कई बार उनका चित्रण रूढ़िवादी दृष्टिकोण से किया जाता है।
3. दिव्यांग लेखकों को पर्याप्त मंच नहीं मिल पाता।
4. समाज में अभी भी दिव्यांगता के प्रति संवेदनशीलता की कमी है।

समकालीन संदर्भ में दिव्यांग विमर्श की प्रासंगिकता

वर्तमान समय में दिव्यांग विमर्श अत्यंत प्रासंगिक है क्योंकि यह समाज में समानता और समावेशन की अवधारणा को मजबूत करता है। समकालीन समाज में यह आवश्यक है कि दिव्यांग व्यक्तियों को शिक्षा, रोजगार और सामाजिक जीवन में समान अवसर प्राप्त हों।

निष्कर्ष

हिंदी साहित्य में दिव्यांग विमर्श एक महत्वपूर्ण और उभरता हुआ क्षेत्र है। यह विमर्श समाज में मौजूद असमानताओं और भेदभाव को उजागर करता है तथा समानता और मानवाधिकारों की स्थापना की दिशा में प्रेरित करता है।

समकालीन हिंदी साहित्य में दिव्यांग व्यक्तियों के अनुभवों और संघर्षों को केंद्र में लाकर यह संदेश दिया जा रहा है कि दिव्यांगता किसी व्यक्ति की क्षमता को सीमित नहीं करती। यदि समाज में समावेशी दृष्टिकोण अपनाया जाए तो दिव्यांग व्यक्ति भी समाज के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

हिंदी साहित्य में दिव्यांग विमर्श एक महत्वपूर्ण और उभरता हुआ साहित्यिक क्षेत्र है। यह विमर्श केवल दिव्यांग व्यक्तियों की समस्याओं को उजागर नहीं करता, बल्कि समाज को अधिक संवेदनशील और समावेशी बनाने की दिशा में भी प्रेरित करता है।

समकालीन हिंदी साहित्य में दिव्यांग विमर्श के माध्यम से यह संदेश दिया जा रहा है कि दिव्यांग व्यक्ति भी समाज के समान अधिकारों वाले सदस्य हैं और उन्हें सम्मानजनक जीवन जीने का अवसर मिलना चाहिए। साहित्य इस दिशा में समाज को जागरूक बनाने का महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

संदर्भ सूची (References)

1. शर्मा, रामविलास. हिंदी साहित्य का इतिहास. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 210–215.
2. नामवर सिंह. इतिहास और आलोचना. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 98–104.
3. बच्चन सिंह. आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 142–150.
4. सिंह, रामचंद्र. हिंदी आलोचना का इतिहास. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 201–205.
5. चतुर्वेदी, रामस्वरूप. हिंदी साहित्य और समाज. राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृ. 88–92.
6. यादव, राजेंद्र. समकालीन हिंदी कथा साहित्य. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 115–120.
7. मिश्र, विद्यानिवास. साहित्य और संस्कृति. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 67–72.
8. पांडेय, मैनेजर. साहित्य और समाजशास्त्र. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 150–158.
9. तिवारी, रामचंद्र. हिंदी आलोचना की परंपरा. विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 200–206.
10. सिंह, विजयदेव नारायण. साहित्य और संवेदना. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 134–139.
11. मिश्रा, गोपाल. समकालीन साहित्य और विमर्श. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 176–182.
12. जोशी, नामदेव. दिव्यांग विमर्श. साहित्य भवन, इलाहाबाद, पृ. 45–52.
13. अग्रवाल, रेखा. समकालीन विमर्श और हिंदी साहित्य. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 90–96.
14. सिंह, अवधेश. मानवाधिकार और समाज. विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 120–125.
15. कुमार, संजय. समकालीन हिंदी साहित्य के विमर्श. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 210–218.
16. पाठक, रघुवीर. साहित्य और सामाजिक चेतना. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 130–138.
17. गुप्ता, रमेशचंद्र. आधुनिक हिंदी आलोचना. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 156–162.
18. वर्मा, रामकुमार. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास. राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृ. 178–184.
19. शर्मा, शिवकुमार. हिंदी साहित्य के विविध आयाम. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 96–101.
20. तिवारी, हरिशंकर. समकालीन साहित्यिक विमर्श. साहित्य भवन, इलाहाबाद, पृ. 55–60.
21. सिंह, नामवर (2011). आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
22. शर्मा, रामविलास (2000). हिंदी साहित्य का इतिहास. दिल्ली: लोकभारती प्रकाशन।
23. तिवारी, विश्वनाथ (2014). समकालीन हिंदी साहित्य. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।
24. वर्मा, नंदकिशोर (2016). हिंदी साहित्य में नए विमर्श. दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन।
25. मिश्रा, श्यामसुंदर (2018). समकालीन हिंदी साहित्य में विमर्श. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।

आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता और उपभोक्तावादी संस्कृति : उदय प्रकाश की कहानियों के परिप्रेक्ष्य में

श्वेता बर्णवाल*

सारांश :

उदय प्रकाश हिंदी कथा साहित्य में एक ऐसे कहानीकार के तौर पर विशेष रूप से चर्चित हैं जिन्होंने अपनी कहानियों के द्वारा पूरे वर्तमान समाज को प्रतिबिंबित किया है। आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, वैश्वीकरण जैसे विकास की तमाम अवधारणाओं ने हमारे समाज में उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। उदारीकरण और वैश्वीकरण के नाम पर पूंजीवाद ने जिस तरह से छिछली पाश्चात्य संस्कृति और उपभोक्तावादी संस्कृति को हमारे समाज में पसारा है, उससे न सिर्फ मनुष्य प्रभावित हुआ है, बल्कि मनुष्य के साथ भारतीय परिवार, समाज, हमारी सभ्यता और संस्कृति भी इससे अछूती नहीं रह पाई है। यह उपभोक्तावादी संस्कृति हमारी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को पूरी तरह से तहस–नहस करने पर आतुर है। प्रस्तुत शोध–पत्र निश्चित ही पूर्व शोध–पत्र की पूरक और नये लोगों के लिए प्रेरणादायक सिद्ध होगी। यह अध्ययन अनुसंधान जगत मे ज्ञानमीमांसा के मार्ग को प्रशस्त करेगा।

मुख्य शब्दः : हिंदी कथा साहित्य, आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता, उपभोक्तावादी संस्कृति, वैश्वीकरण आदि।

प्रस्तावना : डॉ. अमरनाथ शर्मा के शब्दों में– ''आधुनिकता का संबंध आधुनिकीकरण के फलस्वरुप पुरातन तथा परंपरागत विचारों एवं मूल्यों, धार्मिक विश्वासों और रूढ़िगत रीति–रिवाज के विरुद्ध नवीन एवं वैज्ञानिक आविष्कारों, विचारों, नए मूल्यों आदि से है। 'आधुनिकीकरण' शब्द उन समस्त परिवर्तनों तथा प्रक्रियाओं के लिए प्रयोग किया जाता है, जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत औद्योगीकरण तथा यंत्रीकरण के कारण प्रकट हुई है।''[1]

इस उपभोक्तावादी संस्कृति को डॉ. अमरनाथ ने कुछ इस तरह से परिभाषित किया है– ''ऐसी वस्तुएं जो वास्तव में मनुष्य की किसी मूल जरूरत या कला और ज्ञान की वृत्तियों की दृष्टि से उपयोगी नहीं है, लेकिन व्यावसायिक दृष्टि से प्रचार के द्वारा उसके लिए जरूरी बना दी गई हैं, उपभोक्तावादी संस्कृति की देन है। उपभोक्तावादी संस्कृति ऐसी वस्तुओं को शुद्ध व्यवसायिकता के कारण योजनाबद्ध रूप से लोगों पर आरोपित करती है। वह मनोविज्ञान की आधुनिकतम खोजों का इसके लिए उपयोग करती है, ताकि इन वस्तुओं की माया लोगों पर इस कदर छा जाए कि वे इनके लिए पागल बने रहें। उपभोक्तावाद एक ऐसी परिघटना है, जिसमें जरूरत के लिए नहीं, अपितु मुनाफे के लिए उत्पादन होता है और उत्पादित वस्तु के अनुरूप उपभोक्ता की इच्छाएं ढ़ाल दी जाती है।''[2]

उदय प्रकाश की अधिकांश कहानियां इसी उपभोक्तावादी संस्कृति के दुष्प्रभाव से प्रभावित है। पीली छतरी वाली लड़की, और अंत में प्रार्थना, पाल गोमरा का स्कूटर, दत्तात्रेय का दुख, तिरिछ आदि ऐसी कहानी हैं, जिसमें कहानीकार ने उपभोक्तावादी संस्कृति और इसके दुष्प्रभाव पर सूक्ष्मता से चित्रण किया है। इतना ही नहीं, इनकी कहानियों में पूंजीवाद, उदारवाद, वैश्वीकरण, उपभोक्तावादी या बाजारवादी संस्कृति को जिस सूक्ष्मता एवं नग्नता के साथ प्रस्तुत किया गया है, वैसा अन्य कहानीकारों की कहानियों में बहुत कम देखने को मिलता है। पूंजीवाद को तवज्जों देने वालों ने विलास के नाम पर छिछली पाश्चात्य संस्कृति का हमारे यहां प्रचार प्रसार किया, और कहीं ना कहीं इस छिछली पाश्चात्य संस्कृति ने हमारे मन और मस्तिष्क को उपभोक्तावादी संस्कृति का गुलाम बना दिया है।

इस उत्तर आधुनिकतावादी संस्कृति ने हमारे अंदर की चेतना को हाईजैक कर लिया है जिसकी वजह से आज हमारी मौलिक संस्कृति व परंपरा कहीं न कहीं किताबों और पन्नों तक सीमित होती जा रही है। इसी उपभोक्तावादी संस्कृति ने पूरे देश को अपने चपेट में ले लिया है, विशेषकर हमारे देश का मध्यवर्ग इस बाजारवादी संस्कृति के कब्जे में आ चुका है। उदय प्रकाश ने इसी बाजार की महिमा का चित्रण ' पाल गोमरा का स्कूटर ' कहानी में किया है– ''बाजार अब सभी चीजों का विकल्प बन चुका था। शहर, गांव,

* अतिथि प्रवक्ता, हिंदी विभाग, पश्चिम बंगाल राज्य विश्वविद्यालय, बारासात, कोलकाता

कस्बे बड़ी तेजी से बाजारों में बदल रहे थे। हर घर, दुकान में तब्दील हो रहा था। बाप अपने बेटे को इसलिए घर से निकाल कर भगा रहा था कि वह बाजार में कहीं फिट नहीं बैठ रहा था। पत्नियां अपने पतियों को छोड़–छोड़कर भाग रही थी, क्योंकि बाजार में उनके पतियों की कोई खास मांग नहीं थी। औरत बिकाऊ और मर्द कमाऊ का महान चकाचक युग आ गया था।''ङ बहुत खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि इस बाजारवादी संस्कृति के युग में मानवता, इंसानियत, प्रेम आदि का अस्तित्व कहीं न कहीं समाप्त होता जा रहा है, और इन सब का स्थान अर्थ ने ले लिया है।

डॉ. निरंजन देव शर्मा उदय प्रकाश की कहानियों के संदर्भ में लिखते हैं– ''उदय प्रकाश की कहानियां अपने समय के इतिहास के आईने में देखती हैं। आजादी के बाद जहां हम खड़े हैं, वहां स्वतंत्रता जैसे शब्द कितने प्रासंगिक हैं? देश की आजादी का कितना हिस्सा स्वतंत्रता को भोग रहा है? 'पाल गोमरा का स्कूटर' कहानी भी कुछ असुविधाजनक सवाल हमारे सामने रखती है। मानव सभ्यता के कोमल भावनाओं, इंसानियत और मूल्यों को बचाए रखने की तीव्र उत्कंठा उदय प्रकाश की कहानियों में नजर आती है, लेकिन उपभोक्तावाद के चरम पर पहुंच चुके उन्मादी समय में क्या यह मूल्य बचे रह पाएंगे? यह सवाल भी बार–बार उठाती है।''[4]

वैश्वीकरण, बाजारीकरण आदि ने पूरे विश्व को बदल दिया है। विकसित देश के अलावा तीसरी दुनिया के देशों में उपभोक्तावादी संस्कृति की हवा तेजी से बह रही है। ऐसे में हमारा देश भला कैसे अछूता रह सकता था। इस स्थिति को भी उदय प्रकाश की कहानियों में देखा जा सकता है। देश में घटने वाली सारी घटनाओं का प्रभाव दिल्ली के गाजियाबाद के कवि पाल गोमरा के ऊपर पड़ रहा था। इसलिए वह 'राम गोपाल ' से ' पाल गोमरा' बना। और इसी उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण, या यूं कहें कि राज्य परिवहन की बस की भीड़–भाड़ से बचने के लिए, समय की बर्बादी से बचने के लिए स्कूटर लेने का निर्णय लिया। इस संदर्भ में प्रो. जयमोहन का कथन है– ''पाल गोमरा का स्कूटर'' भूमंडलीकरण, उपभोक्ता संस्कार का आदमी पर संघात, उसके टूटे अपनत्व और विचित्र मनोविकारों का कथात्मक आख्यान है। दिल्ली के एक छोटे निकम्मे कवि रामगोपाल ने उत्तर आधुनिक बाजारवादी संस्कृति के लालच में पड़कर उपभोक्तावादी संस्कृति की बाजीगरी में फंसकर अपने आप को बदलने का प्रयत्न किया। अपने नाम का विखंडन करके, खंडों को आगे पीछे पलट कर उत्तर आधुनिक नाम स्वीकार किया 'पाल गोमरा'।''[5]

उपभोक्तावादी संस्कृति का विशेष रूप से प्रभाव मध्यवर्ग पर देखा जा सकता है। उत्तर आधुनिकतावाद ने मध्यवर्ग को एक ऐसी जगह पर लाकर खड़ा कर दिया है जहां से वह न तो आगे जा पा रहा है और न पीछे। इस स्थिति में वह त्रिशंकु की भांति फंसा हुआ है। देखा जाए तो उसकी स्थिति उस कुत्ते के जैसी है, जिसके मुंह में एक तरफ लालच की हड्डी है तो दूसरी तरफ उसकी पुंछ में त्रासदी रूपी जलते हुए पटाखे बंधे हुए हैं, जिनसे वह बच नहीं सकता। वर्तमान समय में पूंजीवाद ने अपने स्वार्थ सिद्धि हेतु आम आदमी के सामने एक ऐसा ही लॉलीपॉप रख दिया है जिसकी लालच में वह उसी तरह फंसता जा रहा है जैसे कि छोटा बच्चा लॉलीपॉप को देखकर उसे हासिल करने और खाने की जिद करता है, लेकिन विडंबना यह है कि आम आदमी के सामने जो लॉलीपॉप रखा जा रहा है वह और कुछ नहीं बस एक छलावा मात्र और चक्रव्यूह की भांति है जिसमें वह लगातार फंसता जा रहा है, और लाख प्रयत्न के बावजूद भी निकल नहीं पा रहा है। विनायक दत्तात्रेय इस तीसरी दुनिया के आम आदमी की स्थिति से अच्छी तरह वाकिफ हैं। ' दत्तात्रेय के दुख ' कहानी में इसी उपभोक्तावादी लॉलीपॉप का जिक्र करते हुए कहा गया है–''दिवाली की रात थी, बच्चों ने कुत्ते की पूंछ में पटाखे की लड़ी बांध दी और बत्ती को तीली दिखा दी थी। पटाखे धड़ा–धड़ फूट रहे थे और कुत्ता बदहवाश, होशोहवास खोकर चीखता, भौंकता, रोता, गिरता–पड़ता भाग रहा था। ... विनायक दत्तात्रेय हंसे। लोगों ने पूंछा आप क्यों हंस रहे हैं? तो उन्होंने जवाब दिया– देखो इस कुत्ते को यह बिल्कुल तीसरी दुनिया का उपभोक्तावादी मनुष्य लग रहा है। उत्तर आधुनिक उपभोक्तावाद का दुर्दांत दृष्टांत।''[6]

गौरतलब है कि उत्तर आधुनिक और पूंजीवादी संस्कृति मनुष्य के मन–मस्तिष्क पर डायरेक्ट वार करती है। उसकी सोचने समझने की शक्ति को क्षीण कर देती है, और ऐसी स्थिति में लाकर खड़ा कर देती है कि वह पूरी तरह से अकेला हो जाता है। उसका साथ कोई नहीं देता। इसी अकेलेपन और दुख की घड़ी में वह अगर दिल्ली वासी हो तो फिर क्या कहना? इतिहास साक्षी है कि दिल्ली कभी किसी के अकेलेपन का साथी नहीं रही है। 'दिल्ली दिलवालों की है' यह अवधारणा पूरी तरह से मिथ्या है, बल्कि दिल्ली तो पैसे

वालों की है। धन, संपत्ति और सत्ता के ठेकेदारों की है। इसलिए जो व्यक्ति दुर्दिनों की चपेट में आता है, दिल्ली उसे बाहर का रास्ता दिखा देती है। ऐसी स्थिति में उसका अकेलापन ही उसका साथी बन जाता हैद्य कहानी से ही– ''जो भी दुर्दिनों में घिरता है। दिल्ली उसे त्याग देती है। विनायक दत्तात्रेय भी दुर्दिनों में थे। दिल्ली ने उसे त्याग दिया था। न उनके पास कोई आता था, न कोई उनका हाल पूछता था। टेलीफोन कभी बचता नहीं था। वह अकेले रह गए थे। अकेलापन और दुर्दिन के दिन बिताने का तरीका विनायक दत्तात्रेय ने खोज निकाला था। वह अपने कमरे के एक कोने में जाकर खड़े हो जाते थे, और पुकार कर पूछते– विनायक कैसे हो? फिर दूसरे कोने पर खड़े होकर मुस्कुराते हुए कहते– मैं ठीक हूं, विनायका, अपनी सुनाओ। कभी–कभार आ जाया करो यार।''[7]

उत्तर–आधुनिकतावाद, पूंजीवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य के बीच खाई उत्पन्न कर दी है, जिसे पाट पाना दिन–व–दिन कठिन होता जा रहा है। इसी उपभोक्तावादी, पूंजीवादी या बाजारवादी संस्कृ ति ने हमारे देश के लोगों की मानवीय संवेदना को भी नष्ट किया है। इन्हीं की वजह से दिन–प्रतिदिन सामाजिक–राजनीतिक अवमूल्यन, जातिवाद, सांप्रदायिकता, राष्ट्रवाद आदि की समस्याएं बढ़ती जा रही हैं। उदय प्रकाश ने इन तमाम समस्याओं पर दृष्टिपात किया है और अपनी कहानियों के माध्यम से आम पाठकों तक पहुंचाने का प्रयास किया है। ' पीली छतरी वाली लड़की ' कहानी में राहुल और अंजलि के प्रेम के माध्यम से समाज के तमाम समस्याओं को उभारने का प्रयत्न किया है। कहानीकार ने इस कहानी के माध्यम से उपभोक्तावादी संस्कृति को पूरी शिद्दत से प्रस्तुत किया है। 21वीं सदी में खड़ा भारत एक नए रूप में दुनिया के सामने है। इस समय देश की सभ्यता और संस्कृति विकलांग हो चुकी है। मानवीय मूल्य लगभग पूरी तरह से ध्वस्त हो चुके हैं। अगर कुछ बचा है तो स्वार्थ, बेईमानी, हिंसा, लूट–खसोट आदि। दुनिया की तमाम ताकत इन्हीं बुराइयों को प्रश्रय देने में लगी हुई हैं। पूंजीवादी या बाजारवादी संस्कृति को पूरी जद्दोजहद के साथ बढ़ावा दिया जा रहा है। कहानी से ही ध्यातव्य है– ''यही वह आदमी है– खाऊ, तुंदियल, कामुक, लुच्चा, जालसाज और रईसय जिसकी सेवा की खातिर इस व्यवस्था और सरकार का निर्माण किया गया है। इसी आदमी के सुख और भोग के लिए इतना बड़ा बाजार और इतनी सारी पुलिस और फौज है।''[8] उदय प्रकाश ने ' पीली छतरी वाली लड़की ' कहानी में विश्वविद्यालय, छात्रावास और शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से पूरे देश के सामाजिक–राजनीतिक अवमूल्यन व भ्रष्टाचार की चरम स्थिति को भी दर्शाते हुए पूंजीवादी शक्तियों को नग्न किया है, जो नव–उदारवाद का चोला पहन कर हमारे समक्ष उपस्थित है। कहानी की शुरुआत में ही कहानीकार ने इस पूंजीवादी व्यवस्था की पोल खोली है– ''वह आदमी बहुत ताकतवर था, उसको सारे संसार की महान शैतानी प्रतिभाओं ने बहुत परिश्रम, हिकमत, पूंजी और तकनीक के साथ गढ़ा था। उसको बनाने में नई टेक्नोलॉजी की अहम भूमिका थी, वह आदमी कितना शक्तिशाली था, इसका अंदाजा एक इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि उसने पिछली कई शताब्दियों के इतिहास में रचे, बनाए गए, दर्जनों सिद्धांत और विचारों को एक झटके में कचरा बनाकर अपने आलीशान बंगले के पिछवाड़े के कूड़ेदान में डाल दिया था। यह वे सिद्धांत थे, जो आदमी की हवस को एक हद के बाद नियंत्रित करने, उस पर अंकुश लगाने या उसे मर्यादित करने का काम करते थे।''[9]

देखा जा सकता है कि सन् 1990 ई. के बाद भारत में नव–उपनिवेशवाद का आगमन हुआ। इसके आगमन से ही पूरी दुनिया के मानचित्र में भारत की छवि पूरी तरह से बदल गई और यह साफ तौर पर पूरे विश्व को पता चल गया कि 'इंडिया इज द बिगेस्ट मार्केट इन द वर्ल्ड'। इसी बाजार के ऊपर दुनिया के दलालों की दृष्टि जम गई। वर्तमान समय में भारत विश्व का सबसे बड़ा बाजार है। इस बाजार में सामाजिक–मानवीय मूल्यों की कोई कीमत नहीं है। आज का मनुष्य अपने स्वार्थ को साधने के लिए एक–दूसरे का सिर्फ उपयोग कर रहा है। समाज से मानवता और सामाजिकता पूरी तरह से गायब होती जा रही है। उदय प्रकाश ने इसे 'पीली छतरी वाली लड़की' कहानी में बहुत ही सूक्ष्म और पारदर्शी तरीके से प्रस्तुत किया है– ''इससे ज्यादा मत खाओ, इससे ज्यादा मत कमाओ, इससे ज्यादा हिंसा मत करो, इससे ज्यादा संभोग मत करो, इससे ज्यादा मत सोओ, इससे ज्यादा मत नाचो, ... वे सारे सिद्धांत जो धर्मग्रंथों में भी थे, समाजशास्त्र या विज्ञान अथवा राजनीतिक पुस्तकों में भी, उन्हें कूड़ेदान में डाल दिया गया था। इस आदमी ने बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में पूंजी, सत्ता और तकनीक की समूची ताकत को अपनी मुट्ठियों में भरकर कहा था स्वतंत्रता! चीखते हुए आजादी! अपनी सारी एषणाओं को जाग जाने दो। अपनी सारी इंद्रियों को इस पृथ्वी पर खुल्ला चरने और विचरने दो। इस धरती पर जो कुछ भी है, तुम्हारे द्वारा भोगे जाने के

लिए है। न कोई राष्ट्र है, न कोई देश, समूचा भूमंडल तुम्हारा है। न कुछ नैतिक है, न कुछ अनैतिक, न कुछ पाप है, न कुछ पुण्य। खाओ, पियो और मौज करो।''[10]

यह उपभोक्तावादी संस्कृति है, जिसमें मूल्यों के मायने बदल जाते हैं। आज लोग अपना स्टेटस बनाए रखने के लिए सही और गलत का अंतर तक नहीं करते। यही वजह है कि कहानीकार ने बाजारवादी और पूंजीवादी संस्कृति का विरोध दर्ज किया है। आज बाजार के नाम पर चारों तरफ सिर्फ स्वार्थ, ठगी, लूट–खसोट फैला हुआ है। इसी प्रकार से उदय प्रकाश ने 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड' कहानी में मध्यवर्गीय समाज की स्थिति का यथार्थ पर चित्रण किया है। आधुनिकता के नाम पर हमने सामाजिक एवं मानवीय मूल्यों को तहस–नहस कर दिया है। यह कहानी लूट–खसोट और बेईमानी की दास्तान कहती है जो नव–औपनिवेशिक मूल्य संकट के रूप में हमारे समाज और देश में छाया हुआ है। कहानीकार ने कहानी में सन 1757 ई. में प्लासी की लड़ाई में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को हराने वाले ईस्ट इंडिया कंपनी के लॉर्ड क्लाइव की टिप्पणी के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि लार्ड क्लाइव की तब की टिप्पणी मौजूदा समय में उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी उस समय थी– ''मैं सिर्फ यही कहूंगा कि अराजकता ऐसा दृश्य, ऐसा भ्रम, ऐसी घूसखोरी और बेईमानी, ऐसा भ्रष्टाचार और ऐसा लूट–खसोट जैसी हमारे राज में दिखाई दे रही है, वैसी किसी और देश में न सुनी गई, न देखी गई। ... विडंबना यह है कि यह 'साधन' सिर्फ रिश्वतखोरी जैसे भ्रष्ट आचरण के लिए ही नहीं, लूट–खसोट, ठगी, जालसाजी के लिए भी इस्तेमाल हो रहे हैं। इसकी मिसालें ऊपर के पदों पर बैठे लोगों ने कायम की है तो भला नीचे के लोग उसका अनुसरण करने में नाकामयाब क्यों रहें? यह रोग सर्वव्यापी है। यह नागरिक, प्रशासन, पुलिस और फौज ही नहीं, लेखकों, कलम नवीसों और व्यापारियों तक को अपनी चपेट में ले चुका है। ... सारे संसार में अनादि काल से आज तक बस एक ही कहानी रची गई है और वही बार–बार दोहराई जाती है। उसका रूप, उसका कलेवर बदल सकता है, पर मूल कथा वही है।''[11]

निष्कर्षतः हम देख सकते हैं कि उदय प्रकाश ने अपनी कहानियों के माध्यम से एक ओर जहां उपभोक्तावादी संस्कृति के दुष्प्रभाव पर प्रकाश डाला है, वहीं दूसरी ओर इस संस्कृति का आमजन पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव को भी बहुत ही संजीदगी के साथ प्रस्तुत किया है। स्वतंत्र भारत के इतिहास में उदय प्रकाश की कहानी इस देश के पूरे सिस्टम के ऊपर सवाल करती नजर आती है कि आजादी के इतने वर्षों बाद भी आमजन मेहनत और ईमानदारी से जीवन गुजर–बसर करने की कोशिश करता है, लेकिन उसके सामने पूंजीवादी शक्तियां लॉलीपॉप रख देती है और इसी लॉलीपॉप को पाने के लिए आमजन बाजारवादी, पूंजीवादी और उपभोक्तावादी संस्कृति का गुलाम दिन–व–दिन बनता जा रहा है।

संदर्भ :

1. डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करणः 2012, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्याः 59–60
2. यथोपरि, पृष्ठ संख्याः 92–93
3. प्रकाश उदय, पॉल गोमरा का स्कूटर, वाणी प्रकाशन, संस्करणः 2010, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्याः 37
4. शर्मा डॉ. निरंजनदेव, हमारा समय और उदय प्रकाश, संपादक– जोशी ज्योतिष, सृजनात्मकता के आयाम, उदय प्रकाश पर एकाग्र, नयी किताब प्रकाशन, संस्करणः 2017, दिल्ली, पृष्ठ संख्याः 114
5. प्रो. जयमोहन, उदय प्रकाश की कहानियांः सर्जना की जांच, संरचना की पड़ताल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करणः 2012, पृष्ठ संख्याः 45
6. प्रकाश उदय, उत्तर आधुनिक उपभोक्तावाद, (कहानी संग्रह), दत्तात्रेय के दुख, वाणी प्रकाशन, संस्करणः 2006, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्याः 42
7. प्रकाश उदय, विनायक का अकेलापन, वाणी प्रकाशन, संस्करणः 2006, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्याः 43
8. प्रकाश उदय, पीली छतरी वाली लड़की, वाणी प्रकाशन, संस्करणः 2014, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्याः 11
9. यथोपरि, पृष्ठ संख्याः11–12
10. यथोपरि, पृष्ठ संख्याः12
11. प्रकाश उदय, वारेन हेस्टिंग्स का सांड़, वाणी प्रकाशन, संस्करणः 2013, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्याः 105

औपनिवेशिक भारत से अनुबंधित महिला श्रमिकों का प्रवासन : अवसर एवं चुनौतियां (1834–1917)

विजय प्रकाश सिंह*

सारांश

औपनिवेशिक भारत से गिरमिटिया मजदूरों का प्रवासन औपनिवेशिक काल के सबसे व्यापक श्रमिकों के पलायनों में से एक था। यद्यपि प्रारंभिक शोध में मुख्य रूप से पुरुष श्रमिकों पर ज़ोर दिया गया था, लेकिन अनुबंध प्रणाली के संचालन में महिलाओं की भागीदारी को अब अधिकाधिक मान्यता मिल रही है। यह अध्ययन औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था, लिंग पदानुक्रम और साम्राज्यवादी शासन के व्यापक संदर्भों में अनुबंधित महिला प्रवास का पुन: विश्लेषण करता है। इसमें तर्क दिया गया है कि जहाँ महिलाओं को ज़बरदस्ती और निगरानी सहित संरचनात्मक बाधाओं का सामना करना पड़ा, वहीं उन्होंने ऐसी सक्रियता का भी प्रयोग किया जिसने विदेशी उपनिवेशों में पारिवारिक संरचनाओं, श्रम संबंधों और सामुदायिक जीवन को नया रूप दिया। भर्ती, प्रवास, बागान अनुभवों और अनुबंध के बाद की बस्तियों का विश्लेषण करके, यह शोधपत्र भारतीय प्रवासी समुदाय को आकार देने में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डालता है।

मुख्य शब्द: गिरमिटिया, पलायन, औपनिवेशिक काल, साम्राज्यवादी, बंधुआ मजदूर, अनुबंधित श्रम, स्वायत्तता

प्रस्तावना

1833 में ब्रिटिश साम्राज्य में दास प्रथा की समाप्ति के बाद बागान अर्थव्यवस्थाओं में भारी संख्या में श्रमिकों की तत्काल आवश्यकता ने औपनिवेशिक सरकार को सोचने पर मजबूर कर दिया। परिणामस्वरुप, औपनिवेशिक प्रशासकों ने गिरमिटिया प्रथा विकसित की, जो सीधे मजदूरों के साथ अनुबंध करके भारत से मॉरीशस, त्रिनिदाद, फिजी और ब्रिटिश गयाना आदि उपनिवेशों में काम करने के लिए निश्चित अवधि तक भेजती थी। इस व्यवस्था के तहत 1834 से 1917 तक अगले आठ दशकों में, दस लाख से अधिक भारतीयों को समझौतों के तहत स्थानांतरित किया गया, जिनमें अक्सर उनकी गतिशीलता और स्वायत्तता सीमित थी। इसीलिए गिरमिटिया प्रथा को दास प्रथा के समान एक नई प्रणाली के रूप में वर्णित करना, इस श्रम व्यवस्था में निहित शोषणकारी आयामों को दर्शाता है (टिंकर, 1974, पृष्ठ 12)इन व्यवस्था में महिलाओं की उपस्थिति पुरुष श्रमिकों की अपेक्षा कम रही, इसीलिए इतिहासकारों ने प्रारंभ में इन्हें सक्रिय भागीदार के बजाय आश्रित के रूप में चित्रित किया। हालांकि, बाद के वर्षों में हुए अध्ययनों से पता चलता है कि महिलाएं गिरमिटिया प्रथा की निरंतरता को बनाए रखने के लिए एक महत्वपूर्ण घटक थी, न केवल श्रमिकों के रूप में बल्कि श्रम के सामाजिक पुनरुत्पादन में योगदानकर्ताओं के रूप में भी। उनके अनुभव लिंग, औपनिवेशिक शक्ति और सत्ता के अंतर्संबंधों को समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं। अत: यह शोधपत्र गिरमिटिया महिलाओं की बागानों में स्थिति, सामाजिक बंधन और उनकी सक्रियता पर केंद्रित है।

बंधुआ मजदूरों के अध्ययन में, टिंकर के प्रभावशाली विश्लेषण ने व्यवस्था के भीतर की जटिलताओं को रेखांकित किया, लेकिन महिलाओं की भूमिकाओं का पूर्ण रूप से अन्वेषण नहीं किया। नारीवादी इतिहासकारों ने यौन असुरक्षा, घरेलू व्यवस्था और लैंगिक असंतुलन जैसे मुद्दों पर ध्यान आकर्षित किया है। पेट्रीसिया मुहम्मद और ब्रिजेट ब्रेरेटोन ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि औपनिवेशिक परिस्थितियों ने पारिवारिक संरचनाओं और लैंगिक संबंधों को नया रूप दिया। गैयुत्रा बहादुर और अश्विनी पांडे ने सिर्फ महिलाओं को पीड़िता के रूप में दर्शाने के बजाय, महिलाओं के निर्णय लेने क्षमता और स्वायत्तता को दर्शाती हैं। अश्विनी पांडे का लिखते है कि महिलाओं ने सक्रिय रूप से अपनी परिस्थितियों का सामना किया और सक्रीयता से बंधनों को चुनौती दी।

प्रवासन के कारण

भारतीय मजदूरों के प्रवासन के कई कारक जिम्मेदार हैं जिसमें मुख्य है : वाणिज्यिक कृषि के बढ़ते हुए क्षेत्र, विस्तारित करों की मांग और पारंपरिक उद्योगों के विघटन ने व्यापक आर्थिक अस्थिरता में योगदान दिया। इन घटनाक्रमों ने निम्न आय वाले लोगों और हाशिए पर रहने वाले समुदायों को असमान रूप से प्रभावित किया। इसके परिणामस्वरूप हजारों भारतीय बंधुआ मजदूरी के दायरे में आ

* शोध छात्र, इतिहास विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म. प्र.)
vijayprakashsingh585@gmail.com

गए। महिलाओं ने इन परिवर्तनों को अनुभव किया और इस भर्ती प्रक्रिया में सम्मिलित हो गई। सामाजिक मानदंडों ने संपत्ति और रोजगार तक उनकी पहुँच को सीमित कर दिया था, जिससे वे अस्थिर घरेलू संरचनाओं पर निर्भर हो गई। विधवापन, परित्याग और घरेलू हिंसा ने उनकी भेदभाव को और बढ़ा दिया। ऐसी परिस्थितियों में, महिलाओं के लिए प्रवास एक आवश्यकता और अवसर दोनों के रूप में उभरा। जैसा कि सेन ने उल्लेख किया है, महिलाओं के प्रवास के निर्णय अक्सर आर्थिक कठिनाई और सामाजिक दबावों के संयोजन से प्रभावित होते थे।

भर्ती प्रक्रियाएँ

बंधुआ मजदूरों की भर्ती भारत के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय बिचौलियों के माध्यम से की जाती थी। ये बिचौलिए अक्सर प्रलोभन और गलत सूचनाओं का सहारा लेते थे, और प्रवास को बेहतर जीवन का एकमात्र मार्ग बताते थे। महिलाएँ, विशेषकर वे जिनके पास मजबूत सामाजिक सहायता या पारिवारिक जीवन नहीं था, ऐसी बातों से आसानी से प्रभावित हो जाती थीं। औपनिवेशिक अधिकारियों ने प्रवासी आबादी में महिलाओं को शामिल करने के महत्व को समझा और उनकी संख्या को नियंत्रित करने का प्रयास किया। बागानों में स्थिर सामाजिक वातावरण को बढ़ावा देने के लिए एक विशिष्ट लिंग अनुपात बनाए रखने के प्रयास किए गए। फिर भी, ये लक्ष्य शायद ही कभी प्राप्त हुए, और अधिकांश प्रवासन धाराओं में महिलाओं का प्रतिनिधित्व कम ही रहा (कार्टर, 1995, पृ. 67)। औपनिवेशिक प्रशासनों ने बागान समाज को स्थिर करने, हिंसा को कम करने के लिए बार-बार महिलाओं को आयात करने पर जोर दिया, फिर भी अक्सर महिलाओं के श्रम को उनके प्रजनन और घरेलू कार्यों की तुलना में गौण, अविश्वसनीय या बोझिल मानते थे। (बील, 1990, पृ. 166)

चयन प्रक्रिया स्वयं नैतिकता और व्यवस्था से संबंधित व्यापक चिंताओं को दर्शाती थी। महिलाओं का मूल्यांकन न केवल उनकी शारीरिक कार्य क्षमता के आधार पर किया जाता था, बल्कि उनकी कथित प्रतिष्ठा के आधार पर भी किया जाता था, जो लैंगिक मानदंडों और औपनिवेशिक शासन के अंतर्संबंध को दर्शाता है।

समुद्री यात्रा

भारत से विदेशी उपनिवेशों की यात्रा प्रवासियों के जीवन में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुई। समुद्र पार करने का अर्थ था स्थापित सामाजिक संरचनाओं, जिनमें जातिगत संबंध और सामुदायिक बंधन शामिल थे, से अलग होना। महिलाओं के लिए यह परिवर्तन महत्वपूर्ण था, क्योंकि प्रवासन ने उनकी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन लाया, स्वायत्तता की भावना को विकसित किया और उनके लिए नए अवसर प्रदान किए। यात्रा अक्सर कठिनाइयों से भरी हुई होती थी, जिनमें भीड़भाड़ और स्वास्थ्य संबंधी जोखिम हमेशा शामिल रहते थे। महिलाओं को सुरक्षा और निजता से संबंधित अतिरिक्त चुनौतियों का सामना करना पड़ता था। हालांकि, समुद्री यात्रा के दौरान इस साझा अनुभव ने गिरमिटिया मजदूरों के बीच एकजुटता के नए रूप भी विकसित किए। यात्रा के दौरान बने संबंध, जिन्हें आमतौर पर जहाजी संबंध कहा जाता है, उपनिवेशों में सामुदायिक जीवन को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे।

उपनिवेशों में पहुंचने के बाद महिलाएं बागानों की श्रम प्रणाली का हिस्सा बन गई। जिसमें कठोर शारीरिक श्रम की आवश्यकता होती थी। वे बुवाई और कटाई जैसे कृषि कार्यों में भाग लेती थीं, साथ ही घरेलू जिम्मेदारियों का भी निर्वहन करती थी। इस दोहरे जिम्मेदारियों को संभालने के बावजूद, उनकी मजदूरी आमतौर पर पुरुष श्रमिकों की तुलना में कम होती थी। औपनिवेशिक प्रशासन ने श्रम को विनियमित करने और अनुशासन बनाए रखने के लिए विभिन्न तंत्र लागू किए। इनमें संविदात्मक दायित्व, निगरानी प्रथाएं और आवागमन पर कानूनी प्रतिबंध शामिल थे। बागानों में विवाह और प्रजनन संबंधी नियमों ने महिलाओं के जीवन को और भी प्रभावित किया, जो एक स्थिर श्रम शक्ति बनाए रखने के महत्व को दर्शाता है।

लैंगिक हिंसा

पुरुष और महिला प्रवासी मजदूरों के बीच असंतुलन का बागान के सामाजिक संबंधों पर भी दूरगामी प्रभाव पड़ा। रिश्तों के लिए प्रतिस्पर्धा अक्सर संघर्ष का कारण बनती थी, और महिलाओं को अक्सर ज़बरदस्ती और हिंसा का सामना करना पड़ता था। साथ ही, औपनिवेशिक कथाओं में महिलाओं को नैतिक दृष्टिकोण से चित्रित किया जाता था, और अक्सर सामाजिक तनावों का कारण उनके व्यवहार को बताया जाता था। इस तरह के चित्रण ने उन संरचनात्मक स्थितियों को छिपा दिया जिन्होंने महिलाओं के अनुभवों को आकार दिया। इन कथाओं ने नियंत्रण प्रणालियों को सुदृढ़ किया जबकि महिलाओं के दृष्टिकोण को हाशिए पर धकेल दिया (बहादुर, 2013,पृष्ठ 132)। इन सभी चुनौतियों के बावजूद, महिलाओं ने साझेदारी बनाकर, शोषणकारी रिश्तों को छोड़कर और सामुदायिक जीवन में भाग लेकर अपने सामाजिक परिवेश को सक्रिय रूप से आकार दिया।

गिरमिटिया प्रथा के तहत हिंसा रिश्तेदारी के टूटने का कोई अपवाद नहीं था; यह रिश्तेदारी को लागू करने, उस पर विवाद करने और उसे पुनर्गठित करने के तरीकों में से एक था। फिजी और नेटाल से प्राप्त महिलाओं के याचिकाओं पर हुए शोध से पता चलता है कि बागान ऐसे युद्धक्षेत्र बन गए थे जहाँ महिलाओं द्वारा साथी चुनने या बदलने के प्रयासों ने पुरुषों को पितृसत्तात्मक सत्ता को बहाल करने के लिए अक्सर हमले या जानलेवा हिंसा के माध्यम से उकसाया। (लाल, 2026, पृ. 12) यह दर्शाता है कि जनसांख्यिकीय असंतुलन के तहत घनिष्ठ संबंधों की अस्थिरता ने पितृसत्ता को समाप्त नहीं किया बल्कि इसने इसके स्वरूपों को बदल दिया और इसके दमनकारी प्रभाव को और तीव्र कर दिया। (मीर, 1981, पृ. 51)

औपनिवेशिक शासन का भी इस हिंसा को बढ़ाने में योगदान रहा। शासन ने केवल कुछ विवाहों को वैध ठहराकर, कुछ दावों को मान्यता देकर और महिलाओं की गतिशीलता को एक कानूनी समस्या के रूप में मानकर, राज्य ने पितृसत्तात्मक संघर्ष को समाप्त करने के बजाय उसमें मध्यस्थता की। (सेन, 2004, पृ. 125) कानून महिलाओं को शिकायत का मार्ग तो प्रदान कर सकता था, लेकिन इसने पुरुषों को वैवाहिक अधिकारों का दावा करने के लिए आधिकारिक प्राधिकार का सहारा लेने के लिए भी प्रेरित किया।(शेख, 2005, पृ. 130-150) इस प्रकार, औपनिवेशिक और भारतीय पितृसत्ताएँ एक समान नहीं थीं, लेकिन वे इस तरह से परस्पर जुड़ी हुई थीं कि बार-बार महिलाओं के शरीर और श्रम को संघर्ष का मैदान बनाया गया। (बील, 1990, पृ. 166)

बंधुआ मजदूरी में हाशिए पर स्थित सामाजिक समूहों की महिलाओं को प्रवास से बहुत पहले ही कई स्तरों की कमजोरियों का सामना करना पड़ा और बाद में बागान शोषण के नए रूपों का सामना करना पड़ा। (रेडडॉक, 1985, पृ. WS81) इसलिए बंधुआ मजदूरी के तहत रिश्तेदारी कभी भी केवल पारिवारिक घनिष्ठता तक सीमित नहीं थी; यह नस्ल, श्रम, जाति और औपनिवेशिक कानून के पदानुक्रम में अंतर्निहित थी। (शेख, 2005, पृ. 45)

महिलाओं ने बागान में बंधुआ मजदूरी की स्थितियों के प्रति विभिन्न रूपों में प्रतिक्रियाएँ दी। कुछ ने अपनी शिकायतों के निवारण के लिए औपनिवेशिक कानूनी प्रणालियों का सहारा लिया, जबकि अन्य ने परित्याग या अधिकारियों के प्रति आज्ञापालन से इनकार जैसी रोजमर्रा की प्रथाओं के माध्यम से प्रतिरोध किया। सांस्कृतिक अभिव्यक्ति भी पहचान को संरक्षित करने और प्रतिरोध को व्यक्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन थी। ये दर्शाते हैं कि महिलाएं औपनिवेशिक सत्ता की केवल निष्क्रिय हिस्सेदार नहीं थीं, बल्कि अपने जीवन को आकार देने में सक्रिय भूमिका निभाती थीं।

प्रवास की अनुबंधों की समाप्ति के बाद भी कई महिलाओं ने भारत लौटने के बजाय उपनिवेशों में ही रहना चुना। उनकी निरंतर उपस्थिति ने स्थिर समुदायों के विकास और नई सामाजिक पहचानों के उदय में योगदान दिया। महिलाओं ने कृषि और लघु व्यापार सहित आर्थिक गतिविधियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे सांस्कृतिक परंपराओं को बनाए रखने और उन्हें भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने में भी महत्वपूर्ण थीं। अपने योगदान के माध्यम से, अनुबंधित महिलाओं ने औपनिवेशिक काल में फैले भारतीय प्रवासी समुदायों की सांस्कृतिक और सामाजिक नींव को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

निष्कर्ष

औपनिवेशिक काल के दौरान भारत से अनुबंधित महिलाओं का प्रवास दबाव, अनुकूलन और स्वायत्तता के जटिल अंतर्संबंधों को दर्शाता है। अनुबंधित महिलाएं केवल एक शोषणकारी व्यवस्था की शिकार नहीं थीं बल्कि वे बागान समाजों के परिवर्तन और प्रवासी पहचान के निर्माण में योगदान देने वाली सक्रिय भागीदार भी थीं।

महिलाओं के बंधुआ प्रवास ने रिश्तेदारी को श्रम अनुशासन, प्रजनन राजनीति, कानूनी हस्तक्षेप और अधीनस्थ वार्ता के निर्णायक क्षेत्र में बदल दिया। (बील, 1990, पृ. 166) बागान ने केवल परिवार को विस्थापित नहीं किया; इसने असमान परिस्थितियों में परिवार के नए रूपों को जन्म दिया, जहाँ विवाह, मातृत्व, परित्याग और घरेलू श्रम का राजनीतिकरण हो गया (मीर, 1981, पृ. 51)।

अतः, बंधुआ मजदूरी प्रथा को पीड़ित होने और लचीलेपन के बहस से परे जाना होगा। महिलाओं को जबरदस्ती, हिंसा और जनसांख्यिकीय हेरफेर का शिकार होना पड़ा, लेकिन उन्होंने उन्हीं संबंधों के माध्यम से भी कार्य किया जिन्होंने उन्हें सीमित करने का प्रयास किया, विवाह, याचिका, गतिशीलता और घरेलू रणनीति का उपयोग करके सीमित स्वायत्तता प्राप्त की। (शेख, 2005, पृ. 130-150)। उनके अनुभव आधुनिक दुनिया में लिंग, श्रम और साम्राज्य के अंतर्संबंधों की बहुमूल्य जानकारी प्रदान करते हैं। महिलाओं को विश्लेषण के केंद्र में रखकर, यह अध्ययन औपनिवेशिक श्रम प्रवास के व्यापक इतिहास को समझने में लिंग के महत्व को उजागर करता है।

संदर्भ सूची :

Bahadur, G. (2013). Coolie Woman: The Odyssey of Indenture. University of Chicago Press, pp. 120–150.

Beall, J. (1990). Women under indentured labour in colonial Natal, 1860–1911. In C. Walker (Ed.), Women and gender in Southern Africa to 1945 (pp. 146–167). Cape Town, South Africa: David Philip.

Bahadur, S. (2019). Women, family institution, and indenture. International Journal of Humanities and Social Science Research, 5(4), 99–102.

Carter, M. (1995). Servants, Sirdars and Settlers. Oxford University Press, pp. 55–89.

Lal, B. V. (2000). Chalo Jahaji. ANU Press, pp. 126–150.

Meer, Y. S. (1981). Documents of indentured labour, Natal 1851–1917. Durban, South Africa: Institute for Black Research. P.125

Northrup, D. (1995). Indentured Labour in the Age of Imperialism. Cambridge University Press, pp. 45–70.

Pande, A. (Ed.). (2021). Indentured and post-indentured experiences of women in the Indian diaspora. Singapore: Springer. P.02

Reddock, R. (1985). Freedom denied: Indian women and indentureship in Trinidad and Tobago, 1845–1917. Economic and Political Weekly, 20(43), WS79–WS87.

Sheik, N. E. (n.d.). Exploring the agency of Indian women under indenture in colonial Natal, 1860–1911 [Unpublished paper]. Retrieved from South African History Online.

Tinker, H. (1974). A New System of Slavery. Oxford University Press, pp. 12–45.

एक कहानी यह भी की मूल संवेदना

निभा कुमारी*

शोध-सार :

यह एक कहानी यह भी मन्नू भंडारी द्वारा रचित है। यह स्त्री जीवन की विडम्बना है कि आज भी एक महिला आर्थिक रूप से मजबूत, पढ़ी-लिखी और समाज में सम्मानित होने के बाद भी अपनी इच्छानुसार जीवन नहीं जी पाती। उसे हर समय परिवार, बच्चों, प्रेम और समाज के नाम पर अपने सपनों और इच्छाओं का त्याग करना पड़ता है। समाज ने जैसे त्याग और सहनशीलता का बोझ केवल स्त्री के हिस्से में डाल दिया है। सवाल यह उठता है कि आखिर कब तक स्त्री ही यह सब सहती रहेगी? इन्हीं भावनाओं और सवालों को सामने लाने वाली रचना है एक कहानी यह भी। यह प्रसिद्ध लेखिका मन्नू भंडारी के जीवन पर आधारित आत्मकथात्मक रचना है। इसमें उन्होंने अपने निजी जीवन, वैवाहिक संबंधों, संघर्षों और एक स्त्री लेखक के रूप में झेली गई कठिनाइयों को बहुत ईमानदारी से बताया है।

बीज शब्द : आत्मकथा, आत्मनिर्भर, पितृसत्तात्मक, स्वतंत्रता, समाज, साहित्यिक और प्रागैतिहासिक।

"मन्नू भंडारी का जन्म 3 अप्रैल 1931 में मध्यप्रदेश के भानपुरा नामक गाँव में एक संयुक्त मारवाडी परिवार में हुआ था। मन्नू जी अपने पिता के सभी संतानों में सबसे छोटी थी। उनका नाम मेहन्द्र कुमारी या घर परिवार के लोग उन्हें लाड रो 'मन्नू ' कहकर पुकारते थे । यही नाम उन्होंने आजीवन अपनाया। मन्नू भंडारी ने अपनी सृजन प्रतिभा के बूते आधुनिक हिंदी कथाकारों के मध्य एक विशिष्ट पहचान बनायीं है। उनकी रचनाओं में नारियों अपने-अपने तरीके से संघर्ष करती दिखाई पड़ती हैं।"[1]

इस कृति में मन्नू भंडारी ने यह दिखाया है कि एक शिक्षित और आत्मनिर्भर स्त्री भी पुरुषवादी सोच और सामाजिक दबावों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाती। उनके जीवन के अनुभवों ने उनकी लेखन-यात्रा को गहराई से प्रभावित किया। इसलिए यह रचना केवल उनकी व्यक्तिगत कहानी नहीं, बल्कि समाज की अनेक स्त्रियों की पीड़ा और संघर्ष की कहानी बन जाती है। मन्नू भंडारी के ही शब्दों में:- "अपनी कहानी लिखते समय सबसे पहले तो मुझे अपनी कल्पना के पर ही कतर कर एक ओर सरका देने पड़े, क्योंकि यहाँ तो निमित्त भी मैं ही थी और लक्ष्य भी मैं ही-यह शुद्ध मेरी ही कहानी है और इसे मेरा ही रहना था, इसलिए न कुछ बदलने- बढ़ाने की आवश्यकता थी, न काटने छाँटने की यहाँ मुझे केवल उन्हीं स्थितियों का ब्योरा प्रस्तुत करना था, वो भी जस-का-तस जिनसे मैं गुजरी-दूसरे शब्दों में कहें तो जो कुछ मैंने देखा, जाना, अनुभव किया, शब्दशः उसी का लेखा-जोखा है यह कहानी"।[2]

भारतीय पितृसत्तात्मक समाज में वर्ष 1931 में जन्मी मन्नू भंडारी के पारिवारिक वातावरण का अंदाज़ा आसानी से लगाया जा सकता है। उनका जन्म और पालन-पोषण ऐसे समाज में हुआ, जहाँ स्त्री को हर समय यह महसूस कराया जाता था कि वह पुरुष से अलग और कम महत्त्वपूर्ण है। बचपन से ही अपने साँवले रंग के कारण मन्नू भंडारी हीनभावना और संकोच का अनुभव करती रहीं। इसके संबंध में मन्नू भण्डारी लिखती हैं:- "मैं काली हूँ, बचपन में दुबली और मरियल भी थी ।"[3]

पिता द्वारा हर छोटी-छोटी बात पर मन्नू की तुलना अपने अन्य बच्चों से करने के कारण उनके मन में हीनभावना घर कर गई थी। वे स्वयं को दूसरों से कम समझने लगी थीं। लेकिन शिक्षा ने उन्हें नई पहचान और आत्मविश्वास दिया। पढ़ाई-लिखाई के माध्यम से उनमें अपने अस्तित्व को समझने और स्वतंत्र सोच विकसित करने की शक्ति आई। इसी

* एम.ए. (नेट), बाबासाहेब भीमराव अंबेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

आत्मविश्वास के कारण उन्होंने अपने पिता के विरोध के बावजूद प्रेम-विवाह करने का निर्णय लिया। "एक ही रुचि, एक ही पेशा कितना सुगम रहेगा । जीवन मुझे अपने लिखने के लिए तो जैसे राजमार्ग मिल जाएगा"।[4]

स्वतंत्र रूप से जीने और सोचने की इच्छा रखने वाली स्त्री के लिए ऐसी स्थिति शायद सामान्य मानी जा सकती है, लेकिन एक पत्नी के रूप में यह अनुभव मन्नू भंडारी के लिए बहुत पीड़ादायक था। उन्होंने अपने वैवाहिक जीवन को लेकर ऐसी परिस्थिति की कभी कल्पना भी नहीं की थी। वे एक सफल लेखकीय जीवन के साथ-साथ सुखी दांपत्य जीवन का सपना संजोए हुए थीं। विवाह के बाद पति-पत्नी के बीच गहरे अपनत्व और एक-दूसरे में पूरी तरह जुड़ जाने की जो इच्छा उन्होंने मन में रखी थी, वह धीरे-धीरे टूटकर बिखर गई। "देखो छत जरुर हमारी एक होगी, लेकिन जिंदगियाँ अपनी-अपनी होंगी बिना एक-दूसरे की जिन्दगी में हस्तक्षेप किए, बिल्कुल स्वतन्त्र, मुक्त और अलग"।[5]

समानांतर जीवन की इस अवधारणा के पीछे आखिर क्या सोच थी? यदि इस प्रकार के जीवन में राजेन्द्र यादव को स्वतंत्रता मिलने का अधिकार था, तो वही अधिकार मन्नू भंडारी को भी मिलना चाहिए था। इसी तरह पारिवारिक जिम्मेदारियाँ, आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक दायित्व भी दोनों के बीच समान रूप से बाँटे जाने चाहिए थे। विवाह दोनों ने किया था, इसलिए उसके दायित्व भी दोनों के बराबर होने चाहिए थे। लेकिन वास्तविकता यह रही कि घर-परिवार की लगभग सारी जिम्मेदारियाँ और आर्थिक समस्याओं का भार मन्नू भंडारी पर ही आ गया। यहाँ राजेन्द्र यादव के विचारों में आधुनिकता और स्वतंत्र जीवन की अवधारणा तो दिखाई देती है, पर व्यवहार में घर और परिवार के प्रति साझा जिम्मेदारी का अभाव स्पष्ट नजर आता है।

ऐसा लगता है कि वे अपने आधुनिक विचारों को पूरी तरह व्यवहार में नहीं उतार सके। बाद के वर्षों में आत्मचिंतन करते हुए राजेन्द्र यादव स्वयं भी अपनी मानसिकता और व्यवहार पर विचार करते दिखाई देते हैं।
"यह अधूरे होने की हीनता-संधि से उत्पन्न दमित सेक्स की विकृत अभिव्यक्ति है जो बार-बार दूसरे से अपनी पूर्णता का आश्वासन चाहती है? या यह मेरी निजी कुंठा है या प्रागैतिहासिक आदिम पुरुष वृत्ति, जहाँ वह अपने कक्षों में शत्रुओं और शिकारों के सर सजाकर विजय के गर्व को बार-बार जीवित रखता है या वह सामंत जिसे अपने हरम में अनगिनत भोग सामग्री चाहिए।[6]

राजेन्द्र यादव का स्वयं को ठीक तरह से न समझ पाना और स्त्रियों के प्रति उनकी भावनात्मक उदासीनता इस प्रसंग से स्पष्ट दिखाई देती है। विवाह के शुरुआती दिनों में, जब पति-पत्नी के बीच आत्मीयता और संवेदनशीलता सबसे अधिक अपेक्षित होती है, तब भी उनका व्यवहार मन्नू भंडारी के प्रति काफी ठंडा और उपेक्षापूर्ण रहा।

शादी के केवल एक महीने बाद ही मन्नू भंडारी के तालू में घाव हो गया था, लेकिन राजेन्द्र यादव ने उनकी विशेष चिंता नहीं की। समय के साथ यह उदासीनता और बढ़ती गई। यहाँ तक कि बेटी के जन्म के बाद भी उनके व्यवहार में कोई खास बदलाव नहीं आया।

आमतौर पर गर्भावस्था के समय हर स्त्री अपने पति के सहयोग, स्नेह और भावनात्मक सहारे की अपेक्षा करती है, लेकिन मन्नू भंडारी को यह सहारा नहीं मिल सका। पुत्री के जन्म के बाद भी राजेन्द्र यादव उनसे मिलने तक नहीं आए, जिससे मन्नू के अकेलेपन और मानसिक पीड़ा का अनुभव और गहरा हो गया। मन्नू लिखती हैं:- "मेरा बड़ा मन करता था कि कभी तो राजेन्द्र मेरे पास अकेले में आकर बैठे बच्ची को देखें, पर नहीं, ये तो मिलने के निर्धारित समय पर भीड़ के साथ आते थे और भीड़ के साथ लौट जाते थे[7]

इन परिस्थितियों में किसी भी स्त्री का दुखी और भावुक हो जाना स्वाभाविक है। ऐसे समय में यदि मन्नू भंडारी के व्यवहार और शब्दों में कड़वाहट आ जाती थी, तो उसे गलत नहीं कहा जा सकता।

हालाँकि ऐसा नहीं था कि राजेन्द्र यादव और मन्नू भंडारी के बीच कभी सहयोग नहीं रहा। उनका सहयोग मुख्य रूप से साहित्य और लेखन के क्षेत्र तक सीमित था। इसका एक प्रमुख उदाहरण उनकी संयुक्त रचना **एक इंच मुस्कान** है। इस उपन्यास का पहला अध्याय राजेन्द्र यादव ने लिखा था, जबकि दूसरा अध्याय मन्नू भंडारी ने लिखा।

पाठकों की दृष्टि में पहले अध्याय को मिली-जुली प्रतिक्रिया मिली, जबकि दूसरे अध्याय को काफी सराहना और लोकप्रियता प्राप्त हुई। संपादक द्वारा पहले अध्याय को लेकर व्यक्त की गई चिंता और दूसरे अध्याय की खुलकर की गई प्रशंसा राजेन्द्र यादव को भीतर ही भीतर खटकने लगी।

यहाँ पति-पत्नी के रूप में दो साहित्यकारों के बीच सफलता और असफलता से उत्पन्न निराशा तथा प्रतिस्पर्धा की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। यह प्रतिद्वंद्विता केवल निजी जीवन तक सीमित नहीं थी, बल्कि साहित्यिक संसार में भी दिखाई देती थी। इसका एक उदाहरण उषा प्रियंवदा से जुड़ी घटना है। जब उषा प्रियंवदा भारत आईं, तब साहित्यिक जगत में उन्हें लेकर काफी उत्सुकता और चर्चा थी। ऐसे समय में राजेन्द्र यादव ने यह बात मन्नू भंडारी से छिपाई और साहित्य अकादमी की बैठक का बहाना बनाकर उनसे अकेले जाकर मिले। यह घटना उनके भीतर मौजूद साहित्यिक प्रतिस्पर्धा और अहंभाव को उजागर करती है।

मन्नू भंडारी की इस रचना में आत्म-असंतोष की भावना गहराई से दिखाई देती है। वे यह महसूस कराती हैं कि घर-परिवार, बेटी और नौकरी जैसी जिम्मेदारियों के साथ-साथ लेखन कार्य को जारी रखना एक स्त्री के लिए कितना कठिन और चुनौतीपूर्ण होता है। "देखिये राजेन्द्र जी संपादक हूँ और मेरा एक अनुरोध है आपसे कि आपका यह चिंतन पाठकों की चिंता न बन जाए।"[8]

बेटी के जन्म के बाद मन्नू भंडारी की जिम्मेदारियाँ और बढ़ गईं। घर-परिवार का खर्च चलाने के लिए उन्हें रानी बिड़ला कॉलेज में अध्यापन कार्य करना पड़ा। दूसरी ओर राजेन्द्र यादव ने पुत्री के पालन-पोषण की जिम्मेदारी को कभी गंभीरता से नहीं लिया। वे न तो बच्ची की देखभाल में सहयोग करते थे और न ही इसे अपना दायित्व मानते थे। उनके भीतर का सामंती अहंकार उन्हें ऐसे कार्यों को स्वीकार करने की अनुमति नहीं देता था, क्योंकि वे इन्हें छोटा और महत्वहीन समझते थे।

इन परिस्थितियों का सबसे अधिक प्रभाव बच्ची पर पड़ा। कभी वह मन्नू भंडारी के पास रहती, तो कभी उनकी बहन के यहाँ। एक माँ के लिए इससे अधिक पीड़ादायक स्थिति और क्या हो सकती है कि उसकी संतान को उचित देखभाल और स्थिर वातावरण न मिल पाए।

घर की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नौकरी करना मन्नू भंडारी की मजबूरी बन गया था। वहीं राजेन्द्र यादव इन जिम्मेदारियों के प्रति लगभग उदासीन बने रहे। वे नौकरी करना नहीं चाहते थे, क्योंकि मन्नू भंडारी के अनुसार इससे उनका पुरुषवादी अहं और आत्मसम्मान आहत होता था। इसका पता मन्नू भंडारी के इस कथन से चलता है:- "बेटी और घर (जिसकी पूरी-पूरी जिम्मेदारी मेरे ऊपर थी) के साथ नौकरी (जो अपनी जिम्मेदारियों को निभाने के लिए अनिवार्य थी) के बीच में से ही लिखने के लिए समय और सुविधा जुटानी पड़ती थी। और मैंने जो कुछ भी लिखा इन सबके बीच लिखा, इनकी कीमत पर कभी नहीं लिखा। लेकिन पहले हर स्तर पर संकट थे, कष्ट थे, समस्याएँ थी, नसों को चटका देने वाले आघात था पर उनके साथ लगातार लिखना भी था। जो भी जैसा भी। आज यह सारी समस्याएं, संकट समाप्तप्राय पर लिखना तो बिल्कुल ही समाप्त है तो क्या संघर्षपूर्ण और समस्याग्रस्त जीवन ही लिखने की अनिवार्य शर्त है?"[9]

जब घर का माहौल तनावपूर्ण और असामान्य हो, तो व्यक्ति अपने जीवन की शांति और संतोष बाहर खोजने लगता है। मन्नू भंडारी भी अनेक परेशानियों, जिम्मेदारियों और मानसिक तनाव के बीच जी रही थीं। इन सब कारणों से वे कई बार लिख नहीं पाती थीं, जिससे उनके भीतर झुंझलाहट और अधूरापन पैदा होता था। लेकिन जब यही पीड़ा और बेचैनी उनकी रचनाओं में व्यक्त होती, तो उनकी कहानियाँ और अधिक प्रभावशाली और मार्मिक बन जाती थीं। उनकी रचनाओं की लोकप्रियता इसका प्रमाण है। विपरीत परिस्थितियों के बावजूद अपनी रचनात्मकता को बनाए रखना और लगातार लिखते रहना उनके जीवन का सबसे बड़ा संघर्ष था।

इतिहास गवाह है कि पुरुषों के बराबर खड़े होने या उनसे प्रतिस्पर्धा करने की कोशिश स्त्रियों के लिए हमेशा कठिन रही है। यही संघर्ष और प्रतिस्पर्धा मन्नू भंडारी के जीवन और उनकी प्रगति में भी कई बार बाधा बनकर सामने आई।

"वह अपनी दुखती रगों और खाली कोनों को अपने लेखन से पूरा करने की कोशिश करती रहती थी। हर कहानी के छपने पर पाठकों की जैसे प्रशंसात्मक प्रतिक्रियाएं मिलती, उनकी हौसला अफ़जाई के लिए वहीं काफी था।"[10]

मन्नू भंडारी के अनुभवों से यह स्पष्ट होता है कि समय बदलने के साथ स्त्रियाँ आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर तो हुई हैं, लेकिन समाज और पुरुष मानसिकता में पूरी तरह परिवर्तन नहीं आया है। आज भी कई परिस्थितियों में पुरुष यह अपेक्षा करता है कि स्त्री उसके अहं को संतुष्ट करती रहे। ऐसी स्थिति में यदि स्त्री स्वयं को कमजोर और असहाय दिखाने से इंकार करे या पति के विवाहेतर संबंधों को "लेखकीय स्वतंत्रता" कहकर सहज रूप से स्वीकार न करे, तो वैवाहिक संबंधों में तनाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है। मन्नू भंडारी ने अपने वैवाहिक जीवन को बचाने के लिए लंबे समय तक समझौते और सहनशीलता का मार्ग अपनाया। उनकी इस कृति में इसके कई उदाहरण देखने को मिलते हैं।

फिर भी यह प्रश्न बना रहता है कि वैचारिक रूप से मजबूत और आत्मनिर्भर स्त्री अपने व्यक्तिगत दुखों के बावजूद विवाह संस्था से इतनी गहराई से क्यों जुड़ी रहती है। वास्तव में यह स्थिति स्त्री के भीतर मौजूद भावनात्मक और सामाजिक अंतर्विरोध को दर्शाती है, जहाँ एक ओर वह स्वतंत्रता चाहती है, तो दूसरी ओर परिवार और वैवाहिक संबंधों को बचाए रखने का प्रयास भी करती रहती है।

इस विषय पर मन्नू भंडारी लिखती हैं कि:- "अपने प्रति हजार धिक्कार उठाने के बावजूद मैं ऐसा कोई निर्णय नहीं ले पाई। क्या मेरी जिन रगों में एक समय लावा बहा करता था, अब पानी बहने लगा है? या कि दो वर्ष की मित्रता में मैं राजेन्द्र से इतने गहरे तक जुड़ गई थी कि उन्हें नकार देना मुझे अपने आप को नकार देने जैसा लगने लगा था- या कि पिताजी की इच्छा के विरुद्ध अपनी इच्छा से की हुई शादी को किसी कीमत पर असफल नहीं होने देना चाहती थी?"[11]

मन्नू जी की यह कहानी केवल उनकी साहित्यिक यात्रा के साधारण उतार-चढ़ावों का वृत्तांत नहीं है, बल्कि जीवन के उन कठोर संघर्षों और गहरे आघातों की भी दास्तान है, जिनका एक झटका ही किसी व्यक्ति को भीतर तक तोड़ देने के लिए पर्याप्त होता है। मन्नू जी ने उन सभी परिस्थितियों का साहसपूर्वक सामना किया। संघर्षों की आँच में तपकर वे और अधिक मजबूत बनीं। समय के साथ वे एक ऐसी संतुलित और शांत अवस्था तक पहुँच गईं, जहाँ न दुःख उन्हें विचलित करता है और न सुख उन्हें बहकाता है। वे एक सात्विक और स्थिर भावभूमि में स्थित रहीं, और शायद यही कारण है कि वे जीवनभर लेखन के क्षेत्र में निरंतर सक्रिय बनी रहीं।

संदर्भ सूची

1. https://sahityasrijan.com
2. भंडारी, मन्नू, एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृष्ठ सं. 8
3. वहीं, पृष्ठ सं. 18
4. वहीं, पृष्ठ सं. 56
5. वहीं, पृष्ठ सं. 56
6. वहीं, पृष्ठ सं. 254
7. वहीं, पृष्ठ सं. 59
8. वहीं, पृष्ठ सं. 64
9. वहीं, पृष्ठ सं. 13
10. वहीं, पृष्ठ सं. 67
11. वहीं, पृष्ठ सं. 221

◂◂ ▸▸

डॉ. राम मनोहर लोहिया के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का समकालीन भारत में महत्व

अनिल कुमार सिंह*

सारांश

डॉ. राम मनोहर लोहिया आधुनिक भारत के प्रमुख समाजवादी चिंतकों में से एक थे। उन्होंने भारतीय राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था को एक नई दिशा देने का प्रयास किया। उनका चिंतन केवल राजनीतिक सत्ता तक सीमित नहीं था, बल्कि सामाजिक न्याय, जाति उन्मूलन, महिला समानता, भाषाई स्वतंत्रता, आर्थिक विकेंद्रीकरण तथा लोकतांत्रिक समाजवाद तक विस्तृत था। लोहिया ने भारतीय समाज की वास्तविक समस्याओं को समझते हुए "सप्त क्रांति" का सिद्धांत प्रस्तुत किया, जो मानव समाज को शोषण और असमानता से मुक्त करने का एक व्यापक कार्यक्रम था।

इस शोध पत्र का उद्देश्य डॉ. लोहिया के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का अध्ययन करना तथा समकालीन भारत में उनकी प्रासंगिकता का विश्लेषण करना है। अध्ययन में द्वितीयक स्रोतों पुस्तकों, शोध पत्रों, लेखों तथा ऐतिहासिक दस्तावेजों का उपयोग किया गया है। शोध से स्पष्ट होता है कि आज भी जातिगत असमानता, बेरोजगारी, भाषाई विवाद, लैंगिक भेदभाव और आर्थिक विषमता जैसी समस्याओं के समाधान में लोहिया के विचार अत्यंत उपयोगी हैं।

शब्द कुंजी : समाजवाद, सामाजिक न्याय, सप्त क्रांति, जाति व्यवस्था, लोकतंत्र, विकेंद्रीकरण, भारतीय राजनीति, महिला समानता, आर्थिक असमानता, हिंदी भाषा

प्रस्तावना

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन केवल राजनीतिक संघर्ष नहीं था, बल्कि यह सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का भी एक व्यापक आंदोलन था। इस आंदोलन ने भारत को अनेक ऐसे महान विचारक और नेता दिए जिन्होंने राष्ट्र निर्माण की दिशा में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए। इन विचारकों में राम मनोहर लोहिया का नाम अत्यंत सम्मान और महत्त्व के साथ लिया जाता है। डॉ. लोहिया भारतीय राजनीति के ऐसे चिंतक थे जिन्होंने भारतीय समाज की वास्तविक समस्याओं को गहराई से समझते हुए उनके समाधान के लिए वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। वे केवल एक राजनेता नहीं थे, बल्कि समाजवादी दार्शनिक, स्वतंत्रता सेनानी, लेखक और सामाजिक परिवर्तन के अग्रदूत भी थे।

डॉ. राम मनोहर लोहिया का जन्म 23 मार्च 1910 को उत्तर प्रदेश के अकबरपुर में हुआ। उनके पिता हीरालाल स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े हुए थे, जिसके कारण बचपन से ही लोहिया के भीतर राष्ट्रभक्ति और सामाजिक चेतना का विकास हुआ। प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने उच्च शिक्षा के लिए जर्मनी के बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। वहाँ उन्होंने "नमक सत्याग्रह" विषय पर शोध किया। विदेश में रहते हुए भी उनका मन भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और सामाजिक समस्याओं से जुड़ा रहा। जर्मनी में अध्ययन के दौरान उन्होंने यूरोप की राजनीतिक परिस्थितियों, समाजवादी विचारधारा और पूंजीवादी व्यवस्था का गहन अध्ययन किया, जिसने उनके चिंतन को व्यापक दिशा प्रदान की।

भारत लौटने के बाद वे स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय रूप से शामिल हुए और महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू तथा जयप्रकाश नारायण जैसे नेताओं के साथ कार्य किया। हालांकि वे गांधीजी से प्रभावित थे, लेकिन उन्होंने गांधीवाद को अपने समाजवादी दृष्टिकोण के साथ जोड़कर एक नई विचारधारा विकसित की। उनका मानना था कि केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लेना पर्याप्त नहीं है, बल्कि सामाजिक और आर्थिक समानता स्थापित करना भी उतना ही आवश्यक है।

डॉ. लोहिया भारतीय समाजवाद के प्रमुख प्रवर्तकों में से थे। उनका समाजवाद पश्चिमी समाजवाद से भिन्न था क्योंकि वह भारतीय परिस्थितियों और समस्याओं पर आधारित था। पश्चिमी देशों में वर्ग संघर्ष मुख्य समस्या थी, जबकि भारत में जाति व्यवस्था, सामाजिक असमानता और गरीबी जैसी समस्याएँ अधिक

* नेट (राजनीति विज्ञान)

गहरी थीं। इसलिए लोहिया ने भारतीय समाजवाद को जाति उन्मूलन, सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता से जोड़कर देखा। वे मानते थे कि जब तक समाज में जातिगत भेदभाव समाप्त नहीं होगा, तब तक लोकतंत्र और समाजवाद दोनों अधूरे रहेंगे।

डॉ. लोहिया ने भारतीय राजनीति में सामाजिक न्याय की अवधारणा को विशेष महत्व दिया। उन्होंने "पिछड़ा पावे सौ में साठ" का नारा देकर पिछड़े वर्गों, दलितों और वंचित समुदायों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व दिलाने की आवश्यकता पर बल दिया। उनका विचार था कि सदियों से शोषित और उपेक्षित वर्गों को समाज की मुख्यधारा में लाने के लिए विशेष अवसर प्रदान करना आवश्यक है। आज भारत में सामाजिक न्याय और आरक्षण की राजनीति पर उनके विचारों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

लोहिया केवल सामाजिक समानता तक सीमित नहीं थे, बल्कि वे महिलाओं की स्वतंत्रता और समान अधिकारों के भी प्रबल समर्थक थे। उनका मानना था कि जिस समाज में महिलाओं को समान अवसर नहीं मिलते, वह समाज कभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकता। उन्होंने स्त्री–पुरुष समानता को सामाजिक परिवर्तन का अनिवार्य आधार माना। उनकी "सप्त क्रांति" की अवधारणा में महिला समानता को विशेष स्थान दिया गया है। वर्तमान समय में महिला सशक्तिकरण, शिक्षा और राजनीतिक भागीदारी से संबंधित नीतियों में उनके विचार अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होते हैं।

भाषा के प्रश्न पर भी लोहिया के विचार अत्यंत महत्वपूर्ण थे। वे भारतीय भाषाओं के समर्थक और अंग्रेजी के अत्यधिक प्रभुत्व के विरोधी थे। उनका मानना था कि अंग्रेजी भाषा ने भारतीय समाज में एक ऐसे अभिजात वर्ग का निर्माण कर दिया है जो आम जनता से कट गया है। वे चाहते थे कि प्रशासन, न्यायालय और शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ हों ताकि लोकतंत्र वास्तव में जनता तक पहुँच सके। हिंदी सहित सभी भारतीय भाषाओं के सम्मान और विकास की आवश्यकता पर उन्होंने बल दिया। वर्तमान समय में मातृभाषा में शिक्षा और भारतीय भाषाओं के संवर्धन की जो चर्चा हो रही है, उसमें लोहिया के विचारों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है।

डॉ. लोहिया ने सत्ता के विकेंद्रीकरण को भी अत्यंत आवश्यक माना। उन्होंने "चौखंभा राज्य" की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसके अनुसार शासन की शक्ति केवल केंद्र सरकार तक सीमित न होकर ग्राम, जिला, प्रांत और केंद्रकृइन चार स्तरों में विभाजित होनी चाहिए। उनका विश्वास था कि सत्ता का विकेंद्रीकरण लोकतंत्र को मजबूत बनाएगा और जनता की भागीदारी सुनिश्चित करेगा। आज पंचायती राज व्यवस्था और स्थानीय स्वशासन की अवधारणा में उनके विचारों की प्रासंगिकता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

लोहिया का सबसे महत्वपूर्ण योगदान उनका "सप्त क्रांति" सिद्धांत माना जाता है। यह सिद्धांत मानव समाज में व्याप्त विभिन्न प्रकार की असमानताओं और शोषण के विरुद्ध संघर्ष का व्यापक कार्यक्रम था। इसमें स्त्री–पुरुष असमानता, जातिगत भेदभाव, रंगभेद, आर्थिक विषमता, विदेशी प्रभुत्व, निजी स्वतंत्रता पर नियंत्रण तथा युद्ध और हथियारों के विरुद्ध संघर्ष को शामिल किया गया। यह सिद्धांत केवल भारत के लिए ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज के लिए समानता और न्याय का संदेश देता है।

डॉ. लोहिया का राजनीतिक जीवन संघर्षों से भरा हुआ था। उन्होंने कांग्रेस की एकदलीय राजनीति का विरोध किया और लोकतंत्र में मजबूत विपक्ष की आवश्यकता पर बल दिया। वे मानते थे कि स्वस्थ लोकतंत्र के लिए सत्ता और विपक्ष दोनों का सशक्त होना आवश्यक है। उन्होंने गैर–कांग्रेसी राजनीति को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय राजनीति में गठबंधन राजनीति और वैकल्पिक राजनीतिक शक्तियों के उदय में उनके योगदान को महत्वपूर्ण माना जाता है।

समकालीन भारत में जब जातीय संघर्ष, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता, भ्रष्टाचार, लैंगिक भेदभाव और भाषाई विवाद जैसी समस्याएँ बढ़ती दिखाई देती हैं, तब डॉ. लोहिया के विचार और अधिक प्रासंगिक हो उठते हैं। उनका चिंतन केवल सैद्धांतिक दर्शन नहीं, बल्कि व्यावहारिक सामाजिक परिवर्तन का मार्गदर्शन प्रदान करता है। उन्होंने जिस समाजवादी व्यवस्था की कल्पना की थी, उसका उद्देश्य केवल आर्थिक विकास नहीं बल्कि सामाजिक न्याय, समान अवसर और मानवीय गरिमा की स्थापना था।

अतः डॉ. राम मनोहर लोहिया भारतीय राजनीतिक और सामाजिक चिंतन के ऐसे महान व्यक्तित्व हैं जिनके विचार आज भी राष्ट्र निर्माण, लोकतंत्र की मजबूती और सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रेरणास्रोत बने हुए हैं। उनका जीवन और चिंतन भारतीय समाज को समानता, स्वतंत्रता और न्याय की दिशा में आगे बढ़ाने का महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है।

उद्देश्य

इस शोध पत्र के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैंकृ

1. डॉ. राम मनोहर लोहिया के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का अध्ययन करना।
2. "सप्त क्रांति" सिद्धांत का विश्लेषण करना।
3. समकालीन भारत में लोहिया के विचारों की प्रासंगिकता का मूल्यांकन करना।

साहित्य की समीक्षा

डॉ. राम मनोहर लोहिया के विचारों पर अनेक विद्वानों ने अध्ययन किया है। विभिन्न पुस्तकों और शोध पत्रों में उनके समाजवादी दर्शन, राजनीतिक दृष्टिकोण तथा सामाजिक चिंतन का विस्तृत वर्णन मिलता है।

1. वाल्टर एंडरसन (1977)

वाल्टर एंडरसन ने लोहिया को भारतीय समाजवाद का मौलिक चिंतक बताया है। उनके अनुसार लोहिया ने भारतीय राजनीति में सामाजिक न्याय को केंद्र में स्थापित किया।

2. ओंकार शरद (1998)

ओंकार शरद द्वारा लिखित पुस्तक "लोहिया के विचार" में उनके समाजवाद, भाषा नीति तथा जाति विरोधी चिंतन का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। लेखक के अनुसार लोहिया भारतीय समाज की जड़ों को समझने वाले यथार्थवादी चिंतक थे।

3. मधु लिमये (1983)

मधु लिमये ने लोहिया के राजनीतिक जीवन और विचारों का गहन अध्ययन किया। उन्होंने बताया कि लोहिया ने कांग्रेस की एकदलीय राजनीति के विरुद्ध लोकतांत्रिक विपक्ष को मजबूत करने का प्रयास किया।

4. बी.पी. वर्मा (1980)

बी.पी. वर्मा के अनुसार लोहिया का समाजवाद केवल आर्थिक व्यवस्था तक सीमित नहीं था, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का व्यापक आंदोलन था।

कार्य प्रणाली

यह शोध पत्र मुख्यतः गुणात्मक (Qualitative) एवं वर्णनात्मक (Descriptive) शोध पद्धति पर आधारित है।

1. शोध का स्वरूप

यह अध्ययन ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक प्रकृति का है।

2. तथ्य संग्रहण के स्रोत

अध्ययन में द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है, जिनमें–

- पुस्तकें
- शोध पत्र
- पत्र–पत्रिकाएँ
- इंटरनेट स्रोत
- ऐतिहासिक दस्तावेज

3. विश्लेषण की पद्धति

संग्रहित तथ्यों का तुलनात्मक एवं व्याख्यात्मक विश्लेषण किया गया है।

डॉ. राम मनोहर लोहिया का समाजवादी चिंतन

लोहिया का समाजवाद भारतीय परिस्थितियों पर आधारित था। वे मानते थे कि पश्चिमी समाजवाद भारत की समस्याओं का पूर्ण समाधान नहीं कर सकता। भारतीय समाज में जाति, गरीबी और अशिक्षा जैसी समस्याएँ विशेष रूप से मौजूद हैं, इसलिए भारतीय समाजवाद का स्वरूप भी अलग होना चाहिए।

उन्होंने "चौखंभा राज्य" की अवधारणा दी, जिसमें सत्ता का विकेंद्रीकरण ग्राम, जिला, प्रांत और केंद्र स्तर पर हो। इससे लोकतंत्र मजबूत होगा और जनता की भागीदारी बढ़ेगी।

लोहिया पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों के आलोचक थे। वे लोकतांत्रिक समाजवाद के समर्थक थे, जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक समानता दोनों सुरक्षित रहें।

जाति व्यवस्था पर लोहिया के विचार

लोहिया ने जाति व्यवस्था को भारतीय समाज की सबसे बड़ी बुराई माना। उनका मानना था कि जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को विभाजित कर दिया है।

उन्होंने "पिछड़ा पावे सौ में साठ" का नारा दिया, जिसका उद्देश्य पिछड़े वर्गों को सामाजिक और राजनीतिक प्रतिनिधित्व दिलाना था। वे आरक्षण को सामाजिक न्याय का साधन मानते थे।
उनके अनुसार–

"जाति तोड़ो, समाज जोड़ो।"

आज भारत में सामाजिक न्याय की जो राजनीति दिखाई देती है, उस पर लोहिया के विचारों का गहरा प्रभाव है।

महिला समानता संबंधी विचार

लोहिया महिला और पुरुष के बीच समानता के प्रबल समर्थक थे। वे मानते थे कि महिलाओं की स्वतंत्रता के बिना समाज का विकास संभव नहीं है।

उन्होंने महिलाओं की शिक्षा, राजनीतिक भागीदारी और आर्थिक स्वतंत्रता पर बल दिया। उनकी "सप्त क्रांति" में स्त्री–पुरुष समानता को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया।

आज महिला आरक्षण, महिला शिक्षा और लैंगिक समानता के आंदोलनों में लोहिया के विचार अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होते हैं।

भाषा संबंधी विचार

लोहिया भारतीय भाषाओं के समर्थक थे। वे अंग्रेजी के अत्यधिक प्रभुत्व के विरोधी थे। उनका मानना था कि अंग्रेजी भाषा ने भारतीय समाज में अभिजात वर्ग को जन्म दिया है।

वे हिंदी सहित सभी भारतीय भाषाओं को सम्मान देने के पक्षधर थे। उनके अनुसार प्रशासन और शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ होनी चाहिए।

आज नई शिक्षा नीति और मातृभाषा में शिक्षा की चर्चा लोहिया के विचारों की प्रासंगिकता को दर्शाती है।

सप्त क्रांति का सिद्धांत

डॉ. लोहिया का "सप्त क्रांति" सिद्धांत उनके चिंतन का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। इसका उद्देश्य समाज में व्याप्त विभिन्न प्रकार की असमानताओं और शोषण को समाप्त करना था।

सप्त क्रांतियाँ निम्नलिखित हैं–

क्रम संख्या	क्रांति का प्रकार	उद्देश्य
1	स्त्री–पुरुष समानता	लैंगिक भेदभाव समाप्त करना
2	जाति उन्मूलन	सामाजिक समानता स्थापित करना
3	रंगभेद विरोध	नस्लीय भेदभाव समाप्त करना
4	विदेशी प्रभुत्व का विरोध	राष्ट्रीय स्वतंत्रता की रक्षा
5	आर्थिक समानता	पूंजीवादी शोषण समाप्त करना
6	निजी जीवन की स्वतंत्रता	लोकतांत्रिक अधिकारों की रक्षा
7	हथियारों के विरुद्ध संघर्ष	विश्व शांति स्थापित करना

यह सिद्धांत मानव समाज के समग्र विकास का मार्ग प्रस्तुत करता है।

आर्थिक विचार

लोहिया आर्थिक असमानता को समाज की प्रमुख समस्या मानते थे। वे छोटे उद्योगों और कुटीर उद्योगों के समर्थक थे।

उन्होंने "समान आय नीति" पर बल दिया। उनके अनुसार समाज में आय का अंतर सीमित होना चाहिए। वे अत्यधिक धन संचय के विरोधी थे।

लोहिया ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाना चाहते थे। उनका मानना था कि भारत का वास्तविक विकास गांवों के विकास से ही संभव है।

राजनीतिक विचार

लोहिया लोकतंत्र के प्रबल समर्थक थे। वे बहुदलीय लोकतंत्र में विश्वास करते थे। उन्होंने कांग्रेस की एकदलीय राजनीति का विरोध किया।

उन्होंने गैर–कांग्रेसी राजनीति को मजबूत किया और विपक्ष की भूमिका को महत्वपूर्ण माना।

उनका मानना था कि लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जब जनता राजनीतिक रूप से जागरूक हो और सत्ता का विकेंद्रीकरण हो।

सारणी : डॉ. लोहिया के प्रमुख विचार एवं वर्तमान प्रासंगिकता

विचार	मुख्य उद्देश्य	वर्तमान प्रासंगिकता
समाजवाद	आर्थिक समानता	बेरोजगारी और गरीबी समाधान
जाति उन्मूलन	सामाजिक न्याय	आरक्षण और सामाजिक समानता
महिला समानता	लैंगिक न्याय	महिला सशक्तिकरण
भाषाई स्वतंत्रता	भारतीय भाषाओं का विकास	मातृभाषा शिक्षा
चौखंभा राज्य	सत्ता का विकेंद्रीकरण	स्थानीय स्वशासन
सप्त क्रांति	समग्र सामाजिक परिवर्तन	आधुनिक सामाजिक आंदोलनों में उपयोगी

परिणाम एवं विवेचना

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि डॉ. राम मनोहर लोहिया के विचार केवल स्वतंत्रता आंदोलन तक सीमित नहीं थे, बल्कि वे आधुनिक भारत के निर्माण की व्यापक योजना प्रस्तुत करते हैं।

1. सामाजिक न्याय की अवधारणा

लोहिया ने पिछड़े वर्गों और दलितों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व दिलाने की आवश्यकता पर बल दिया। आज भारतीय राजनीति में सामाजिक न्याय की अवधारणा उनके विचारों से प्रभावित है।

2. लोकतांत्रिक समाजवाद

उन्होंने लोकतंत्र और समाजवाद का समन्वय प्रस्तुत किया। वर्तमान समय में जब आर्थिक असमानता बढ़ रही है, तब उनका समाजवाद प्रासंगिक दिखाई देता है।

3. महिला सशक्तिकरण

महिलाओं की समान भागीदारी पर उनका जोर आज भी महत्वपूर्ण है। आधुनिक भारत में महिला आरक्षण और लैंगिक समानता की नीतियाँ उनके विचारों से मेल खाती हैं।

4. भाषाई स्वाभिमान

लोहिया भारतीय भाषाओं के सम्मान के पक्षधर थे। नई शिक्षा नीति में मातृभाषा पर दिया गया बल उनके विचारों की प्रासंगिकता को सिद्ध करता है।

5. विकेंद्रीकरण

उन्होंने सत्ता के विकेंद्रीकरण को लोकतंत्र की मजबूती के लिए आवश्यक माना। पंचायत राज व्यवस्था और स्थानीय स्वशासन इसी दिशा में महत्वपूर्ण कदम हैं।

हालाँकि कुछ आलोचक मानते हैं कि लोहिया के विचार अत्यधिक आदर्शवादी थे और उन्हें व्यवहार में पूर्ण रूप से लागू करना कठिन है। फिर भी सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है।

निष्कर्ष

डॉ. राम मनोहर लोहिया भारतीय राजनीति और समाजवादी चिंतन के ऐसे महान विचारक थे जिन्होंने सामाजिक न्याय, समानता और लोकतंत्र को नई दिशा प्रदान की। उनका चिंतन भारतीय समाज की वास्तविक समस्याओं से जुड़ा हुआ था।

उन्होंने जाति व्यवस्था, लैंगिक असमानता, आर्थिक विषमता और भाषाई भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष किया। उनका "सप्त क्रांति" सिद्धांत आज भी सामाजिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण आधार माना जाता है।

समकालीन भारत में जब सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ बढ़ रही हैं, तब लोहिया के विचार अधिक प्रासंगिक हो उठते हैं। उनके विचार केवल राजनीतिक दर्शन नहीं, बल्कि एक न्यायपूर्ण और समतामूलक समाज के निर्माण का मार्गदर्शन प्रदान करते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि डॉ. राम मनोहर लोहिया का चिंतन भारतीय लोकतंत्र और सामाजिक परिवर्तन के लिए आज भी प्रेरणास्रोत है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Anderson, W. (1977). *Socialism in India*. New Delhi: Oxford University Press.
2. Lohia, R. M. (1964). *Marx, Gandhi and Socialism*. Hyderabad: Nav Hind Publications.
3. Lohia, R. M. (1963). *Wheel of History*. Hyderabad: Rammanohar Lohia Samata Vidyalaya Nyas.
4. Limaye, M. (1983). *Dr. Ram Manohar Lohia*. New Delhi: Ministry of Information and Broadcasting.
5. Sharad, O. (1998). *Lohia Ke Vichar*. New Delhi: Rajkamal Prakashan.
6. Verma, V. P. (1980). *Modern Indian Political Thought*. Agra: Lakshmi Narain Agarwal.
7. Chaube, K. N. (2001). *भारतीय राजनीतिक चिंतन*. New Delhi: National Publishing House.
8. Mehta, V. R. (1996). *Foundations of Indian Political Thought*. New Delhi: Manohar Publishers.
9. Narayan, J. P. (1970). *Towards Total Revolution*. Bombay: Popular Prakashan.
10. Singh, A. K. (2012). "Ram Manohar Lohia and Social Justice." *Indian Journal of Political Science*, 73(2), 245–252.

भारत में नील की खेती का ऐतिहासिक अवलोकन

अजीत कुमार*

भारत में नील की खेती करने की प्रथा 1405 ई0 में आरंभ हुई।[1] उस समय जावा नेटाल प्रकार के नील की खेती थी। एक फ्रांसिसी व्यापारी लुई बन्नो ने 1777 ई0 में बंगाल सूबे में नील की खेती की शुरूआत की। इस व्यापार की सफलता से प्रोत्साहित होकर करैल ब्लूम नामक एक अंग्रेज व्यापारी ने 1778 ई0 में सर्वप्रथम नील की कोठी खोली तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा गवर्नर को सूचित किया कि नील की खेती बड़े मुनाफे का साधन बन सकती है। बिहार में नील–उद्योग आरंभ कराने का श्रेय तिरहुत (मुजफ्फरपुर) एवं दरभंगा के कलक्टर रहे फ्रांकॉस ग्रैण्ड (1782–1785) को जाता है। उसने अपने स्तर से नील की खेती शुरू करवाई।[2] 7 अगस्त, 1792 को तिरहुत के कलक्टर आर. वथुर्स्ट ने लिखा कि उस समय रैयतों को नील को खेती के लिए तीन रूपया और जमीन के लिए तीन रूपया दिया जाता था।[3] मिण्डेन विल्सन ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ बिहार' में नील की खेती का इतिहास लिखा है जो 1907 ई0 में प्रकाशित हुई। इसके अनुसार टी.एस.कम्पनी द्वारा 1801 में सिरहा में, मिस्टर हेनरी हिल द्वारा तुरकौलिया में नील की फैक्ट्री स्थापित की गई।[4] मिण्डेन के अनुसार मिस्टर हिल राजपुर में 1810 से 1814 ई0 तथा मोतिहारी में 1818 ई0 में रहे और इस अवधि में इस क्षेत्र में नील एवं गन्ना के उत्पादन में वृद्धि हुई। 1850 ई0 में नील की दर में वृद्धि होने के कारण गन्ना की फैक्ट्रियों को भी नील में बदल दिया गया। उन्नीसवीं शताब्दी में पिपरा (1835–1838), जगौलिया (1848), लोहिअरिया (1887), गोबर्धना (1882), व्यारेह (1884), कुरिआह (1884), सलेपुर (1891) और बगहा इत्यादि जगहों पर नील की फैक्ट्रियाँ बनाई गई। औद्योगिक क्रांति के बाद कपड़ों के उत्पादन तथा इसमें अधिक मात्रा में नील दिए जाने के कारण नील की माँग में बेतहाशा वृद्धि हुई। भारतीय नील ब्रिटेन के अतिरिक्त इटली, फ्रांस, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, मिस्र तथा फारस आदि देशों में भेजी जाने लगी। नील की बढ़ती माँग एवं मुनाफे की भारी संभावनाओं को देखते हुए तिरहुत, चम्पारण, बंगाल, उड़ीसा, बनारस, इलाहाबाद आदि अन्य जगहों पर भी नील की कोठियाँ खुल गईं।[5]

नील–व्यापार में अंग्रेज एवं भारतीय जमींदारों–व्यापारियों की सहभागिता को लेकर बंगाल में बहस आरंभ हुई। 15 दिसम्बर, 1829 को भारतीय व्यापारियों और जमींदारों की एक सभा कलकत्ता टाउन हॉल में हुई जिसमें राजा राम मोहन राय, द्वारका नाथ ठाकुर आदि ने भाग लिया। ये लोग निलहों के प्रबल समर्थक थे और चाहते थे कि निलहों को बड़ी–बड़ी जमींदारियाँ खरीदने और बड़े पैमाने पर नील की खेती कराने के अधिकार प्रदान किए जाएँ। उन्होंने ब्रिटिश संसद को एक स्मृति पत्र भेजा जिसका समर्थन लॉर्ड विलियम बेण्टिक ने किया।[6] जमींदारों का दूसरा वर्ग इसका विरोध कर रहा था। उनकी सोच थी कि अगर निलहों को जमींदारियाँ खरीदने का अधिकार दिया जाएगा तो देशी जमींदारों एवं किसानों का सर्वनाशा हो जाएगा। उन्होंने भी ब्रिटिश संसद को स्मृति–पत्र भेजा जिसमें निलहें साहबों के अत्याचार का वर्णन किया गया। उधर, ब्रिटेन के उपनिवेशवादी भारत में अंग्रेजों को बसाना और यहाँ पूँजी का जाल बिछाना चाहते थे। लॉर्ड विलियम बेण्टिक ने 1829 में बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स को लिखा कि कम्पनी के हितों के संरक्षण में अंग्रेजों की सुरक्षा के लिए एक समानान्तर चक्र की आवश्यकता है और यदि यूरोपियनों को यहाँ पूंजी लगाने की अनुमति दी जाएगी तो ये कंपनी के लिए अतिरिक्त सुरक्षा प्रदान करेंगे। ब्रिटेन की सरकार ने भारतीय भूमि पर ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार को समाप्त कर दिया और अब भारत में पूँजी का नया अध्याय आरंभ हुआ जिसकी शुरूआत नील एवं गन्ना की खेती एवं फैक्ट्रियों से हुई। पहले जो कोठियाँ ईस्ट इंडिया कम्पनी की थीं इन्हें निलहों ने खरीदना शुरू कर दिया और नई–नई फैक्ट्रियाँ भी बसाई जाने लगी। बेतिया राज की जमीन के कुछ हिस्सों में मालगुजारी वसूल करने का अधिकार भी इन्होंने बाद में ले लिया और इस क्षेत्र में अपनी फैक्ट्रियाँ भी स्थापित की।[7]

चम्पारण में नील की खेती दो प्रकार से होती थी। कोठीवालों की दखल में जो जमीन होती थी उसमें वे भारतीय रैयतों के हल–बैल एवं मजदूरों की सहायता से नील की खेती करवाते थे और इस प्रथा को 'जिरात' कहते थे। चूँकि मजदूरों को हल–बैल एवं मजदूरी के रूप में बहुत कम पैसा मिलता था, इससे वे

---

* एम0ए0 (इतिहास), इग्नू, यू0जी0सी0 नेट, 2013

असंतुष्ट रहते थे। दूसरी प्रथा थी कि निलहें साहब किसानों को अग्रिम रकम देकर उनकी भूमिक पर ही नील की खेती कराते थे। इसे 'असामीवार' कहा जाता था। चम्पारण में इसके अतिरिक्त 'खुश्की' और 'कुरतौली' प्रथा का भी उल्लेख मिलता है जिसमें कोठीवाले रैयतों की जमीन की सिकमी बंदोबस्ती लेकर उसमें नील की खेती कराते थे। लेकिन इनकी संख्या बहुत ही कम थी। असामीवार प्रथा का स्वरूप इतना कठोर होता था कि एक बार जो रैयत निलहों से पैसा लेता था वह जिन्दगी भर गुलामी की जंजीर में फँसा रह जाता था। चम्पारण में निलहे साहब रैयतों से एक निश्चित भूमि पर नील की खेती करवाते थे और बदले में उन्हें एक निश्चित रकम देते थे। 1860 ई0 तक एक बीघा जमीन वालों को 5 कट्ठा जमीन में नील की खेती करनी होती थी। 1867 में इसे बदल दिया गया और अब उन्हें सिर्फ तीन कट्ठा में ही नील की खेती करनी होती थी। इसी प्रथा का नाम तिनकठिया पड़ा।[8]

नील एवं गन्ना की खेती कराने तथा इससे उत्पाद तैयार करने के कार्यों में रैयतों, किसानों एवं मजदूरों का बहुत अधिक शोषण किया जाता था। इन तथ्यों को अंग्रेज अधिकारी और ईसाई मिशनरी के पादरीगण भी स्वीकारते थे। सी.ई.बकलैण्ड ने अपने प्रतिवेदन में इसे विस्तार से स्वीकार किया है। अत्याचार के व्यापक स्वरूप को देखते हुए अंग्रेज हुकूमत ने इसकी जाँज के लिए एक कमीशन की नियुक्ति कर दी। 1848 में नील कमीशन के सामने बंगाल के फरीदपुर के मजिस्ट्रेट देलागतूर ने मार्मिक वर्णन किया कि नील की एक भी ऐसी डिबिया इंग्लैंड नहीं पहुँचती जो इनसान के खून से रंगी न ही। इस कमीशन ने अपने जाँच–प्रतिवेदन में निलहों के अत्याचारों का विस्तार से वर्णन किया।[9] निलहों द्वारा किसानों पर तरह–तरह के अत्याचार किए जाते। अगर कोई किसान निलहों के खिलाफ जाने की हिम्मत करता तो उसके घरों की औरतों के साथ बलात्कार किया जाता, उसके घर लूट लिए जाते, घरों में आग लगा दी जाती और यहाँ तक कि उन्हें मौत के घाट उतार दिया जाता। निलहे गोरों के इन अत्याचारों की बातें ब्रिटिश पार्लियामेंट में लेआर्ड साहब ने उठाते हुए कहा कि निलहे असहाय किसानों की जमीन दखल कर रहे हैं, घर–द्वार ध्वस्त कर रहे हैं, बाग–बगीचों को नष्ट कर रहे हैं। जो बाधा देने की चेष्टा करते हैं, उनकी हत्या कर दी जाती है। उनका अपहरण कर निलहों द्वारा खुद से बनाए गए जेलखानों में उन्हें बंद किया जा रहा है। सारे देश में अराजकता का बाजार गर्म है। ऐसी घटना किसी भी सभ्य देश में नहीं मिलती है।[10]

भारत में नील की खेती परंपरागत रूप से होती थी। मध्यकाल में विदेशियों के आगमन के बाद इसमें वृद्धि हुई।

संदर्भ–

1. भैरव लाल दास, चम्पारण में गाँधी की सृजन–यात्रा, बिहार विद्यापीढ, पटना, 2017, पृ–5
2. वही
3. अरविन्द मोहन, चम्पारण सत्याग्रह की कहानी, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ0 62
4. वही
5. प्रभात कु0 शुक्ल, इंडिगो एंड द राजः पीजेंट्स इन बिहार, 1780–1917, प्रगति प्रकाशन, 2004, पृ–3
6. वही
7. वही
8. अरविन्द मोहन – पूर्वोक्त, पृ0 63
9. राजेन्द्र प्रसाद, चंपारण में महात्मा गाँधी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 2014, पृ0 11